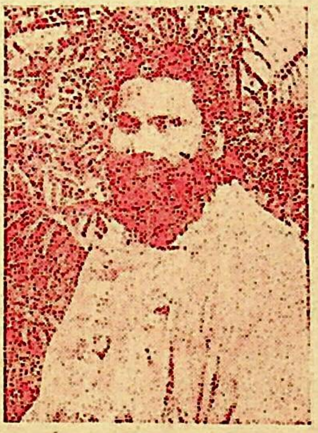
(आनन्दघनग्रन्थमालायाः पञ्चमं कुसुमम्)

सवार्त्तिकं सानुवादं नारदीयं

भक्तिदर्शनम्



संशोधित मूल्य
१०-००

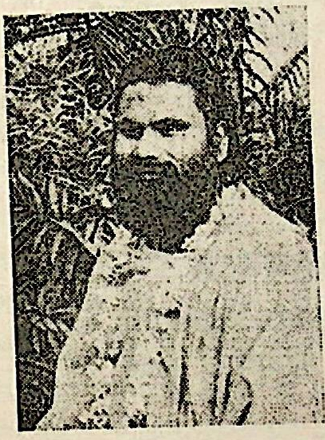
वार्त्तिककारः—

श्री जयमङ्गलाचार्यः (स्वामी काशिकानन्दः)

(आनन्दवनग्रन्थमालायाः पञ्चमं कुसुमम्)

सवार्त्तिकं सानुवादं नारदीयं

भक्तिदर्शनम्



वार्त्तिककारः—

श्री जयमङ्गलाचार्यः (स्वामी काशिकानन्दः)

प्रकाशक:
श्री स्वामीकाशिकानन्दजी ट्रस्ट

प्रथम भाग

मूल्य ३-०-०

प्राप्ति स्थानम्:

आनन्दवन आश्रम
स्वामी विवेकानन्द रोड
कांदीवली, बंबई ६७

: मुद्रक :
भालचन्द्र डाह्याभाई पटेल
कोरीट प्रिन्टरी
रतनपोळ फत्तेभाईनो हवेली
अमदावाद

देवर्षि नारद और भक्तिसूत्र

देवर्षि नारद प्रणीत भक्तिसूत्र विश्ववाङ्मय की अमूल्य रत्न निधि है। सहज स्वाभाविक प्रांजल भाषा में अतिसूक्ष्म वाचामगोचर भक्तितत्त्व का निरूपण करने में जो सफलता देवर्षि को प्राप्त हुई वह अन्य किसी को नहीं। एक साधारण संस्कृतज्ञ भी आसानी से भाव समझ सकें ऐसी सरल शैली को अपनाकर नारदजीने मानो अपनी ही इस उक्ति को कि "तस्मिंस्त्वां (भक्तिं) स्थापयिष्यामि गेहे गेहे जने जने" चरितार्थ किया।

आधुनिक गवेषक इस सरलता को देखकर प्रथम यही कल्पना करते हैं कि ये सूत्र पुराणप्रसिद्ध देवर्षि नारद के नहीं हैं। किन्तु अर्वाचीन किसी पंडितने, जिस का नाम भी संभवतः नारद ही हो, इन सूत्रों की रचना की होगी। अपनी इस उक्ति में वे तर्क भी यह देते हैं कि इन सूत्रों पर किसी भी प्राचीन प्रामाणिक आचार्य का भाष्यादि उपलब्द नहीं है और न इन का उद्धरण ही कहीं प्राचीन ग्रंथो में उपलब्ध होता है। ये मनीषी इन्हीं तर्कों के आधार पर श्रीमद्भागवतको भो अर्वाचीन ही मानते हैं। खैर, भागवत तो यहां चर्चाका विषय नहीं है। भक्ति सूत्रों के बारे में यह निश्चय कहा जा सकता है कि ये प्रसिद्ध देवर्षिनारद प्रणीत ही हैं। यदि इन के रचयिता कोई अन्य होता तो "इत्येवं वदन्ति०" इत्यादि सूत्र में भक्ताचार्यपरिगणना में अपरित्याज्य नारदजी को छोडने का कोई कारण नहीं था। "पूजादिष्वनुरागः०" इत्यादि सूत्रों में व्यास-गर्ग-शाण्डिल्य-नारद इन चारका

नाम लेकर भक्ताचार्य परिगणना में इन में से केवल नारद का परीत्याग कैसे संभव था ? उस परीगणना में छूटे हुए प्रसिद्ध देवर्षि नारदका ही "य इदं नारदप्रोक्तं०" सूत्र में नारद पद से निर्देश है। सूत्ररचयिता नारद अपनेको देवर्षि नारद से अभिन्न साबित करने के लिये ऐसी करतूत की इत्यादि कल्पना तो सत्य पर धूलीपात मात्र होगा। "अहिंसासत्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि" उपदेश देने वाले स्वयं सत्यपर परदा डालें ऐसी कल्पना अपने चश्मे के अनुसार दुनिया को देखने वाला ही कर सकता है अन्य नहीं। भाष्यादि का न लिखा जाना अन्य कई सूत्रों परभी लागू है अतः वह हेतु नहीं हो सकता ॥

सूत्र अत्यन्त सरल होने परभी भावार्थ अति गंभीर होने से थोडा बहुत उसका प्रकाशन करने के लिये वार्त्तिक निर्माण का यह मेरा प्रयास हुआ। सिद्धान्तसमन्वयार्थ अधिकतर श्री श्रीधरस्वामी के सिद्धान्त का ही अनुगमन किया। उनकी निष्पक्षात व्याख्या ने ही गौराङ्गमहाप्रभु जैसे भक्ताचार्यों को भी अपनी ओर झुकाया था। सिद्धान्त विषयविवेचन में विस्तारपूर्वक द्वितीयखण्ड के मुद्रणावसर में ही करने का यत्न कर सकूगा। क्यों कि मुद्रण में अर्थभार भारी हो गया। अत एव इस समय एक खण्ड ही अधूरा छपाया जा सका। हिन्दी व्याख्या में भी अपेक्षित विस्तार नहीं कर सका। अन्त में मुद्रण में सहायता करने वाले श्री. ब्र. चिच्चैतन्यजी श्री सुरेशचन्द्र भाई, श्री मूलचंद भाई, श्री डाह्याभाई पंचाल, शारदा बहन पटेल आदि सब को भूरिशः धन्यवाद देता हूँ।

शिवरात्रि २०२६

वार्त्तिककार :

देवर्षिनारदप्रोक्तं शिवानुशासनापरपर्यायं

भक्तिदर्शनम्

जयमङ्गला अनुवादसहितम्

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

परमपुरुषार्थ होनेसे हम भक्तिकी व्याख्या प्रस्तुत करेंगे ॥१॥

(स्वरूप लक्षण) (१)

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥ २ ॥

भगवान्में परम प्रेम ही उस भक्तिका स्वरूप है ॥२॥

अमृतस्वरूपा च ॥ ३ ॥

वह भक्ति नित्य एवं आनन्दरसस्वरूप भी है ॥३॥

(फल लक्षण) (२)

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति ॥४॥

जिसे प्राप्त हो कर मनुष्य सिद्ध होता है अमृत होता है और तृप्त होता है ॥४॥

यत् प्राप्य न किंचिद् वाञ्छति न शोचति
न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ॥ ५ ॥

जिसे प्राप्त कर मनुष्य अन्य कुछ चाहता नहीं, शोक नहीं करता, रमता नहीं और उत्साही नहीं होता ॥५॥

यद् ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति ॥६॥

जिसे जानकर मनुष्य मस्त होता है, स्तब्ध होता है और आत्माराम होता है ॥६॥

(भक्ति की अकामयमानरूपता) (३)

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥ ७ ॥

भक्ति निरोधरूपिणी होनेसे कामसे विरुद्धरूप है ॥७॥

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ॥ ८ ॥

लौकिक तथा वैदिक कर्मोंका संन्यास ही निरोध है ॥८॥

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ॥ ९ ॥

भगवानमें अनन्यता और प्रेमके विरोधियोंमें उदासीनता यह भी निरोध है ॥९॥

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ॥ १० ॥

अन्य-आश्रयोंको त्यागना अनन्यता कहलाती है ॥१०॥

लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता ॥ ११ ॥

लोक और वेदमें भगवदनुकूल या प्रेमानुकूल जो कर्म हैं उन्हें करना यह विरोधियोंमें उदासीनता है ॥११॥

भवतु निश्चयादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ॥ १२ ॥

निश्चयोत्तर शास्त्ररक्षण भले हो ॥१२॥

अन्यथा पातित्याशङ्क(य)া ॥१३॥

अन्यथा पतनकी आशंका रहती है ॥१३॥

लोकेऽपि तावदेव किन्तु भोजनादिव्यापारस्त्वाशरीर-धारणावधि ॥ १४ ॥

लौकिक कर्मोंमें भी वही अवधि है जो शास्त्रके बारेमें कहा, हाँ, भोजनादि तो शरीर धारण जब तक है तब तक होता है ॥१४॥

(भक्तिका नानालक्षणनिरूपण) (४)

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात् ॥ १५ ॥

अब नानामत भेदसे भक्तिके लक्षण कहेंगे ॥१५॥

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥१६॥

पूजादिमें अनुराग भक्ति है यह व्यासजीका मत है ॥१६॥

कथादिष्विति गर्गः ॥ १७ ॥

गर्गाचार्यका मत है कि कथादिमें अनुराग भक्ति है ॥१७॥

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥ १८ ॥

शाण्डिल्यऋषिका कहना है कि आत्मरतिविरोध न होने· पर उक्त अनुराग भक्ति है ॥१८॥

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता च ॥ १९ ॥

देवर्षि नारदका मत है कि भगवानमें सर्वाचरणार्पण और भगवद्विस्मृतिमें परमव्याकुलता भक्तिका लक्षण है ॥१९॥

अस्त्येवमेवम् ॥ २० ॥

प्रेमका यथार्थतः ऐसा ही स्वरूप है ॥२०॥

यथा व्रजगोपिकानाम् ॥ २१ ॥

जैसे व्रजकी गोपिकाओंमें पाया जाता है ॥२१॥

तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः ॥ २२ ॥

उन गोपिओंमें भी माहात्म्यज्ञानकी विस्मृतिका अपवाद नहीं है, अर्थात् माहात्म्यज्ञान विस्मृति उनको भी होती थी ॥२२॥

तद्विहीनं जाराणामिव ॥ २३ ॥

माहात्म्यज्ञानसे सर्वथा विहीन प्रेम तो जारप्रेमसमान है ॥२३॥

नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम् ॥ २४ ॥

जार प्रेममें स्वार्थ होनेसे प्रियके सुखमें अपना सुख नहीं होता ॥१५॥

(भक्ति की कर्म, ज्ञान और योग से श्रेष्ठता (५)

सा तु कर्म–ज्ञान–योगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥ २५ ॥

वह (भक्ति) कर्म, ज्ञान और योगसे भी श्रेष्ठ है ॥२५॥

फलरूपत्वात् ॥ २६ ॥

क्यों कि भक्ति सबका फल है ॥२६॥

ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद्दैन्यप्रियत्वाच्च ॥ २७ ॥

ईश्वर भी अभिमानसे द्वेष और दीनतासे प्रेम करते हैं ॥२७॥

(इति प्रथमो लक्षणखण्डः)



(भक्तिकी स्वयं साध्यसाधनरूपता) (६)

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके ॥ २८ ॥

ज्ञान ही भक्तिका साधन है ऐसा कुछ आचार्योंका मत है ॥

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥ २९ ॥

दूसरे आचार्य ज्ञान और भक्तिकी अन्योन्याश्रयता मानते हैं ॥

स्वयंफलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः ॥ ३० ॥

भक्ति स्वयं अपना ही फल है यह ब्रह्मकुमारोंका सिद्धान्त है ॥३०॥

राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥ ३१ ॥

राजगृहभोजनादिमें वैसा ही (स्वयंफलस्वरूप) देखनेमें आता है ॥३१॥

न तेन राजपरितोषः क्षुच्छान्तिर्वा ॥ ३२ ॥

उससे न तो कोई राजाका संतोष होता है और न क्षुधा-शान्ति ही ॥३२॥

तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥ ३३ ॥

अतः भक्ति ही मुमुक्षुओंके लिये ग्राह्य है ॥३३॥

(भक्तिसाधननिरूपण) (७)

तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः ॥ ३४ ॥

आचार्य लोग भक्तिके नाना साधन बताते हैं ॥३४॥

तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च ॥ ३५ ॥

भक्ति विषयोंके त्यागसे और संगके त्यागसे प्राप्त होती है ॥३५॥

अव्यावृतभजनात् ॥ ३६ ॥

निरन्तर भजनसे भक्ति सिद्ध होती है ॥३६॥

लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात् ॥ ३७ ॥

लोकमें भी भगवान के गुणोंके श्रवण और कीर्तनसे भक्ति होती है ॥३७॥

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ॥ ३८ ॥

मुख्यतया महान पुरुषोंकी कृपासे ही भक्ति प्राप्त होती है या भगवानके कृपालेशसे प्राप्त होती है ॥३८॥

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥ ३९ ॥

महान पुरुषोंका संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ होता है ॥३९॥

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥ ४० ॥

भगवत्कृपासे ही सत्संग भी मिलता है । ॥४०॥

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥ ४१ ॥

भगवान् में और भगवद्भक्तमें भेद ही नहीं है ॥४१॥

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥ ४२ ॥

भक्ति ही सिद्ध करो भक्ति ही सिद्ध करो ॥४२॥

दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः ॥ ४३ ॥

दुःसंगका तो सर्वथा ही त्याग कर देना चाहिये ॥४३॥

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात् ॥ ४४ ॥

क्यों कि वह दुःसङ्ग काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश और बुद्धिनाशके क्रमसे सर्वनाशका कारण है ॥४४॥

तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात् समुद्रायन्ति ॥ ४५ ॥

तरंगरूपसे रहने वाले भी ये दुःसंगसे समुद्र समान हो जाते हैं ॥४५॥

(माया तरणसाधन) (८)

कस्तरति कस्तरति मायां यः सङ्गांस्त्यजति यो महानुभावं सेवते निर्ममो भवति ॥ ४६ ॥

अहो ! मायाको कौन तर सकता है ? वह तर सकता है जो संगको छोड देता है, जो महानुभावोंकी सेवा करता है, ममता रहित होता है ॥४६॥

यो विविक्तस्थानं सेवते यो लोकबन्धमुन्मूलयति निस्त्रैगुण्यो भवति यो योगक्षेमं त्यजति ॥ ४७ ॥

जो एकान्तवास करता है, जो लोकबन्धन तोड देता है, जो तीनों गुणोंसे रहित होता है, जो योगक्षेमचिन्तासे दूर रहता है, (वह मायाको तर सकता है) ॥४७॥

यः कर्मफलं त्यजति कर्माण्यपि संन्यस्यति ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥ ४८ ॥

जो कर्मफलको छोड देता है, फिर कर्मोंको भी त्याग देता है और उससे निर्द्वन्द्व हो जाता है, (वह मायाको तर सकता है ॥४८।

यो वेदानपि संन्यस्यति केवलमविच्छिन्नमनुरागं लभते ॥४९॥

जो वेदोंका भी संन्यास करता है और केवल अवि-च्छिन्न अनुराग प्राप्त करता है (वह माया तर सकता है ॥

स तरति स तरति स लोकांस्तारयति ॥ ५० ॥

अवश्य ही वह मायाको तर जाता है और लोगोंको भी तार देता है ॥५०॥

(प्रेमकी अनिर्वचनीयता) (९)

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥ ५१ ॥

प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है (वाणीका विषय नहीं) ॥

मूकास्वादनवत् ॥ ५२ ॥

मूकास्वादनके समान प्रेम है (मूक=गूंगा)

प्रकाशते क्वापि पात्रे ॥ ५३ ॥

किसी योग्य पात्रमें ही प्रेमका प्रकाश होता है ॥५३॥

(साध्य मुख्य प्रेम निरूपण) (१०)

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥ ५४ ॥

प्रेम गुण (त्रिगुण) रहित तथा कामना रहित होता है। वह प्रतिक्षण बढता रहता है, कभी टूटता नहीं। अत्यन्त सूक्ष्म तथा अनुभवस्वरूप है। ॥५५॥

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयात तदेव चिन्तयति ॥ ५५ ॥

प्रेम प्राप्त कर प्रेमी उसीको देखता, उसीको सुनता उसीको बोलता और उसीको सोचता है। ॥५५॥

(साध्य गौणी भक्ति निरूपण) (११)

गौणी त्रिधा गुणभेदादार्त्तादिभेदाद्वा ॥ ५६ ॥

गौणी भक्ति तीन गुणोंके भेदसे या आर्त्त-जिज्ञासु -अर्थार्थी भेदसे तीन प्रकारकी होती है। ।५६॥

उत्तरस्मादुत्तरस्मात् पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति ॥ ५७ ॥

उत्तर उत्तरसे पूर्व पूर्व भक्ति श्रेयस्करी होती है। ॥५७॥

इति द्वितीय साधनखण्डः

(भक्ति सुलभ है) (१२)

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥ ५८ ॥

अन्य साधन साध्योंकी अपेक्षा भक्ति ही सुलभ है। ॥५८॥

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयंप्रमाणत्वात् ॥ ५९ ॥

क्योंकि भक्तिमें अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है, वह स्वयं प्रमाण है। ॥५९॥

शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च ॥ ६० ॥

और वह (भक्ति) शान्तिरूप और परमानन्दरूप है (इस लिये भी सुलभ है) ॥६०॥

(सुलभ साधन) (१३)

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात् ॥६१॥

भक्तको लोक हानिके निमित्त चिन्तित नहीं होना चाहिये क्यों कि आत्मा, लोक और वेदको भगवदर्पण कर दिया फिर क्यों चिन्ता ॥६१॥

न तदसिद्धौ लोकव्यवहारो हेयः, किन्तु फलत्यागस्तत्साधनं च कार्यमेव ॥ ६२ ॥

चिन्ता न हो तो भी लोकव्यवहार नहीं छोडना चाहिये। किंतु फल त्याग और भक्तिसाधन व्यवहार करना ही चाहिये ॥६२॥

स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम् ॥ ६३ ॥

स्त्री, धन, नास्तिक और वैरीका समाचार नहीं सुनना चाहिये ॥६३॥

अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम् ॥ ६४ ॥

अभिमन-दम्भादिका परित्याग करना चाहिये ॥६४॥

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ॥ ६५ ॥

भगवानमें सर्वकर्मार्पण करें और काम क्रोध-अभिमानादि भी भगवानमें ही करें ॥६५।

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ताभजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यं प्रेमैव कार्यम् ॥ ६६ ॥

त्रिस्वरूप संसार भंग करते हुए नित्यदास्य· और नित्यकान्ता भाव भजनात्मक प्रेम ही करना चाहिये, प्रेम ही करना चाहिये ॥६६॥

(मुख्य भक्त) (१४)

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः ॥ ६७ ॥

एकान्ती भक्त मुख्य होते है। ॥६७॥

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथ्वीं च ॥ ६८ ॥

कण्ठावरोध, रोमांच और अश्रुपातके साथ परस्पर भगवद्वार्ता करते हुए भक्त अपने कुलोंको और पृथिवीको भी पवित्र करते हैं। ॥६८॥

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि ॥ ६९ ॥

भक्त तीर्थोंको तीर्थ बनाते हैं, कर्मोंको सुकर्म बनाते हैं और शास्त्रोंको सत्शास्त्र बना देते हैं। ॥६९॥

तन्मयाः ॥ ७० ॥

भक्त भगवन्मय होते हैं ॥७०॥

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं पृथिवी भवति ७१

उनसे पितर आनन्दित होते हैं, देवता नृत्य करने लगते हैं और पृथिवी सनाथ हो जाती है ॥७१॥

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः ॥ ७२ ॥

भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल धन, क्रिया आदिको लेकर भेदभाव नहीं होता ॥७२॥

यतस्तदीयाः ॥ ७३ ॥

क्यों कि भक्त भगवदीय होते हैं। ॥ ७३ ॥

(परमावश्यक साधन) (१५)

वादो नावलम्ब्यः ॥ ७४ ॥

वाद विवादका अवलम्बन करना नहीं चाहिये। ॥७४॥

बाहुल्यावकाशादनित्यत्वाच्च ॥ ७५ ॥

इस लिये कि वाद बढता जाता है और कोई स्थायी फल भी उससे नहीं होता। ॥ ७५ ॥

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधकराणि कर्माण्यपि करणीयानि ॥ ७६ ॥

भक्ति शास्त्रोंका मनन करना चाहिये और भक्ति के उद्बोधक कर्म भी करना चाहिये। ॥ ७६ ॥

सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्धमपि व्यर्थं न नेयम् ॥ ७७ ॥

भक्त को तो उस समय की प्रतीक्षा करनी होती है जब कि सुख-दुःख, राग-द्वेष, लाभ-हानि आदि से

वह अलग हो। उस समयकी प्राप्ति तक एक क्षणार्ध भी व्यर्थ बीतने नहीं देना चाहिये ॥ ७७ ॥

अहिंसासत्यशौचदयाऽऽस्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि ॥ ७८ ॥

अहिंसा, सत्य, शुचिता, दया, आस्तिकता आदि चरित्र लक्षणोंका पालन भक्त के लिये आवश्यक है। ॥७८॥

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः ॥ ७९ ॥

सर्वदा सर्वभाव से निश्चिन्त हो भगवानका ही भजन करें ॥ ७९ ॥

स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान् ॥

कीर्त्तन से भगवान शीघ्र ही प्रकट होते हैं और भक्तों को अनुभव करा देते हैं। ॥ ८० ॥

(भक्ति रहस्य) (१६)

त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी ॥ ८१ ॥

त्रिकालसत्य परमेश्वरकी भक्ति ही श्रेष्ठ है। ॥८१॥

गुणमाहात्म्यासक्ति-रूपासक्ति-पूजासक्ति-स्मरणासक्ति-दास्यासक्ति-सख्यासक्ति- कान्तासक्ति-वात्सल्यासक्त्या-ऽऽत्मनिवेदनासक्ति-तन्मयतासक्ति-परमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति ॥ ८२ ॥

भक्ति यद्यपि प्रेमस्वरूपा एक ही है तथापि विषयभेद से ग्यारह प्रकारकी होती है। वे हैं गुणमाहात्म्यासक्ति आदि ॥ ८२ ॥

इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमार-व्यास-शुक-शाण्डिल्य-गर्ग-विष्णु-कौण्डिन्य-शेषो-द्धवा-ऽऽरुणि-बलि-हनुमद्-विभीषणादयो भक्ताचार्याः ॥८३॥

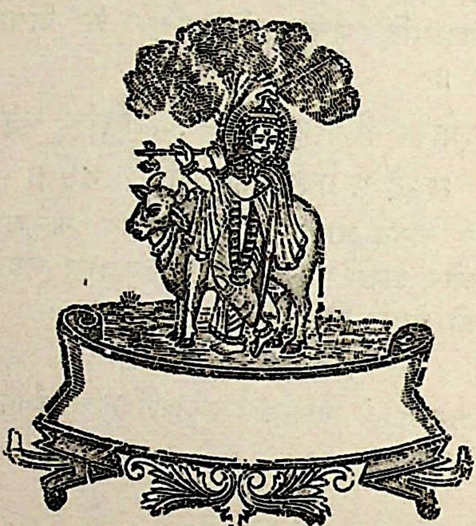
इस प्रकार जनजल्प से निर्भय होकर एकमति से कुमार, व्यासादि भक्ताचार्य भक्ति के विषयमें कहते हैं । ॥ ८३ ॥

य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धत्ते स प्रेष्ठं लभते स प्रेष्ठं लभत इति ॥ ८४ ॥

देवर्षि नारद प्रोक्त इस मङ्गलमय अनुशासनमें जो विश्वास और श्रद्धा रखता है वह अवश्य अपने प्रियतम परमात्माको प्राप्त होगा । ॥ ८४ ॥

इति तृतीयोऽनुष्ठानखण्डः

समाप्तमिदं शिवानुशासनापरपर्यायं भक्तिदर्शनम्



देवर्षिनारदप्रणीतानि
शिवानुशासनापरनामधेयानि

भक्तिसूत्राणि

जयमङ्गलाचार्य (स्वामीकाशिकानन्द) कृतवार्त्तिकसमेतानि

(मङ्गलाचरण)

ॐ

विशुद्धप्रेमपूर्णाब्धिलीलाकल्लोलवर्ष्मणे।
नमः श्रीकृष्णचन्द्राय जगतामन्तरात्मने॥ १॥

विशुद्ध—मिश्रणरहित प्रेम ही भगवानका स्वरूप है। वह परिपूर्ण है-अपरिच्छिन्न है, सागर के समान एक-रस है। अपनी ही लीलासे उस प्रेमसागर की ही जो प्रेममयी तरंग उठती है वही भगवानका आविर्भूत शरीर है। उन्ही भगवान से जगतकी उत्पत्ति स्थिति और संहार होने से वे सर्वान्तरात्मा है। उन भगवान श्रीकृष्ण-चन्द्रकी चरणोमें मेरा भक्तिभावनम्र यह प्रणाम है॥१॥

(सब साधनोंका चरमफल भक्ति है)

धर्मार्थकाममोक्षाणां योगादीनामशेषतः।
पारम्पर्यात् स्वभावाद्वा भक्तिरेव परं फलम्॥ २॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी प्रसिद्ध पुरुषार्थ तथा सांख्य योगादि साध्य साधनभाव से प्रसिद्ध समस्त शास्त्रार्थका परम्परया या स्वभावतः भक्ति ही परमफल है।

(धर्मका परम फल भक्ति है)

* स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति*॥ ३ ॥

श्रीमद्भागवतादिमें ऐसा बताया है कि वही मनुष्यों का परम धर्म है जिससे परमेश्वरमें निष्काम अविच्छिन्न भक्ति हो, जिस (भक्ति) से आत्माकी प्रसन्नता होती है।

* दानव्रततपोहोम जपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते* ॥ ४ ॥

दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय, संयम एवं अन्यान्य श्रेयों (धर्मों) का कृष्णमें भक्ति ही साध्य होती है ।

* त एव नियमाः साक्षात् त एव च यमोत्तमाः ।
तपो दानं व्रतं यज्ञो येन तुष्यत्यधोक्षजः* ॥ ५ ॥

वे ही साक्षात् नियम हैं और वे ही उत्तम यम हैं, तप, दान, व्रत एवं यज्ञ हैं जिन से भगवान् प्रसन्न होते हैं । ॥ ५ ॥

* धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्* ॥ ६ ॥

धर्मका भली भांति अनुष्ठान किया फिर भी भगवत्कथामें रति उत्पन्न नहीं हुई तो समझना चाहिये कि केवल श्रममात्र हुआ । ॥ ६ ॥

* धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते* ।
इत्यादिभिधर्मफलं भक्तिरेव विनिश्चितम् ॥ ७ ॥

धर्म का फल अपवर्ग है न कि अर्थ इत्यादि (" सर्वैपुंसां० इत्यादि) वचनों से यह निश्चित होता है कि धर्मका फल भक्ति है । ॥ ७ ॥

अपवर्गान्तसाधुत्वादापवर्ग्यो निगद्यते ।
अपवर्गश्च भक्तिर्हि सा परा मुक्तिरिष्यते ॥ ८ ॥

पूर्व श्लोकस्थ 'आपवर्ग्य' शब्दका अर्थ है आ-अपवर्गतक पहुँचाए । अपवर्ग भक्ति को ही कहते हैं । क्यों कि अपवर्गका शब्दार्थ है मुक्ति, और भक्ति ही परा मुक्ति मानी गयी है । ॥ ८ ॥

* निश्चला त्वयि भक्तिर्या सैव मुक्तिर्जनार्दन ।
मुक्ता एव हि भक्तास्त*इति स्कान्देऽवलोकनात् ॥९॥

भक्ति ही मुक्ति इसमें यह स्कन्द पुराणका वचन प्रमाण है कि हे जनार्दन! जो आपमें निश्चल भक्ति है वही मुक्ति है । क्यों कि भक्त मुक्त ही होते हैं । ॥९॥

(अर्थका परम्परया फल भक्ति है)

* नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः* ।
वित्तं मे स्यात्ततः कर्म कुर्वीयेति श्रुतेरपि ॥ १० ॥

अर्थ का एक मात्र प्रयोजन धर्म है काम (विषयोपभोग) नहीं (और धर्म का फल भक्ति पहले बताया गया अतः अर्थ का परम्परया फल भक्ति सिद्ध हुआ) श्रुतिभी कहती है-मुझे वित्त प्राप्त हो और उस से यज्ञादि कर्म (धर्म) करूं । ॥१०॥

(कामादिका परम्परया फल भक्ति है)

* कामस्य नेन्द्रियप्रीतिः किंतु जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥ ११ ॥
वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमव्ययम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥ १२ ॥
तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया ।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया* ॥१३॥

काम (विषयोपभोग) का प्रयोजन इन्द्रिय प्रीति नहीं, किन्तु जीवन निर्वाह है। जीवन का भी प्रयोजन तत्त्व जिज्ञासा ही है, न कि कर्म साध्य धनभोगादि। ॥११॥ वह तत्त्व क्या है जो जिज्ञास्य है? इस विषय में तत्त्ववेत्ताओं का कहना है कि अद्वयज्ञान ही वह तत्त्व है जिस को ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् शब्द से कहा जाता है। ॥१२॥ उस तत्त्व पर श्रद्धा रखने वाले मननशील मुनि श्रवण करते हुए, ज्ञान वैराग्य सहित भक्ति प्राप्त करते हैं जिस से अपने आपमें परमात्मा का साक्षात्कार भी कर लेते हैं। ॥१३॥

* अतः पुंभिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्* ॥ १४ ॥

सूतजी:—हे शौनकादि ऋषियो! पुंभिः = मानव जीवनप्राप्त प्राणधारियों का कर्तव्य यह अर्थात् मानव-जीवन का रहस्य यह कि प्रथम वर्णाश्रम विभाग से स्व-धर्म का यथावत् अनुष्ठान करें और उस में संसिद्धि प्राप्त करें। धर्म की संसिद्धि क्या है? इस का उत्तर यही कि हरितोषण अर्थात् भक्ति ही धर्म की संसिद्धि है। ॥१५॥

इत्याद्यावर्थकामादेः पारम्पर्येण दर्शितम् ।
भगवत्सेवनं मुख्यं फलं नान्यन्नृणामिति ॥ १५ ॥

"नार्थस्य धर्मैकान्तस्य०" इत्यादि वचनों में अर्थ काम जीवनादि सब का परम्परया भगवद्भजन ही मुख्य फल है, अन्य नहीं यह दिखाया गया है । ॥१५॥

(मोक्षका भी फल भक्ति है)

* आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः* ॥ १६ ॥

आत्माराम वासनाग्रन्थिरहित मुनिगण भी भगवान में निष्काम भक्ति करते हैं । कारण यह कि हरि के गुण ही ऐसे होते हैं कि स्वभावतः उन में भक्ति हो जाती है।

* प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिषेवतः ।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः* ॥ १७ ॥

हे राजन् ! विधि और निषेध से निवृत्त ब्रह्मनिष्ठ मुनि भी प्रायः भगवान के गुणगान करने में आनंद का अनुभव करते हैं । ॥१७॥

अत्र मुक्ता निगद्यन्त आत्मारामादिशब्दतः ।
प्रायः स्वभावतस्तेषां भक्तिरत्रोपदर्शिता ॥ १८ ॥

'आत्मारामाश्च०' इत्यादि दो श्लोकों में आत्माराम नैर्गुण्यस्थ इत्यादि शब्दों से मुक्त (जीवन्मुक्त) का निर्देश है। उनकी स्वभावतः भगवान में भक्ति यहां दिखायी गई है।

भजन्ते विग्रहं कृत्वा मुक्ता अपि च लीलया ।
इत्थं विदेहमुक्तानां भक्ति भाष्यकृदब्रवीत् ॥ १९ ॥

मुक्त पुरुष भी लीलया शरीर बनाकर भगवद्भजन करते हैं इस प्रकार नृसिंह पूर्वतापनीय भाष्य में भाष्यकार भगवत्पाद शंकराचार्य का भी वचन है।

विदेहमुक्तिरत्रोक्ता देहं कृत्वेत्युदीरणात् ।
जगद्व्यापारवर्जं ते सर्वं कर्तुं हि शक्नुयुः ॥ २० ॥

'विग्रहं कृत्वा' इस भाष्योक्ति से यहाँ मुक्तपद का विदेहमुक्त अर्थ है। ब्रह्मसूत्र के जगद्व्यापाराधिकरणसे यह निश्चित है कि जगदुत्पत्ति आदि को छोड कर अन्य सभी कार्य मुक्तपुरुष कर सकते हैं-शरिरादि बना सकते हैं।

(सांख्यादि का फल भक्ति है)

* एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया ।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः* ॥ २१ ॥

सांख्य से, योग से एवं स्वधर्मनिष्ठा से मानवजन्म का इतना ही परमफल है कि अन्तसमय में भगवत्स्मरण-रूपी भक्ति हो। ॥२१॥

(सर्व साधनोंका फल भक्ति है)

* स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः* ॥ २२ ॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति में ही सर्व साधनों का समावेश है। विधि निषेध रूपी वे सभी साधन "विष्णु का स्मरण सतत करो, कभी न भूलो इन दो के दास अर्थात् शेष हैं।

इत्यादौ सकलानां च साधनानां परं फलम् ।
भगवद्भक्तिरेवेति संक्षेपेण निरूपितम् ॥ २३ ॥

उक्त वचनका रहस्य यही कि समस्त साधनों का परमफल भक्ति है ॥२३॥

(सर्व रहस्य भक्ति है)

* वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः ।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥ २४ ॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः ।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः* ॥ २५ ॥
सर्वस्यैवं वासुदेवपरत्वं वदताऽर्थतः ।
तत्प्रेमभक्तिः सकलरहस्यमिति सूचितम् ॥ २६ ॥

स्वाध्याय, यज्ञ, योग, क्रिया, ज्ञान, तप, धर्म एवं मोक्ष का परम लक्ष्य वासुदेव ही है इस प्रकार सब को वासुदेव परक कहनेका अभिप्राय यही कि ज्ञेय तथा प्राप्य होने से इष्ट वही है प्रीति उसी में करो । फलतः संपूर्ण वेदशास्त्र का रहस्य भगवत्प्रेमभक्ति सिद्ध होती है ॥२४-२६॥

(नारदशब्दके दो यौगिक अर्थ)

नारं तत् परमं प्रेम यो ददाति स नारदः ।
नरस्य धर्म्यं नालं च तदनन्ततृषात्मकम् ॥ २७ ॥

पूर्वसन्दर्भ में प्रदर्शित भक्तिरूपी उस परम प्रेम को ही 'नार' कहते हैं । उसे जो दें वे ही नारद हैं । प्रेमको नार इस लिये कहते हैं कि वह नरों का धर्म्यं है । (नरस्य धर्म्यं इस विग्रह में "नराच्चेति वक्तव्यं" इस वार्त्तिक से अण् प्रत्यय होता है) और न + अलम् = नालम् = नारम् - प्रेम अलंरहित है अनन्त प्यासरूप है इस लिये भी नार कहलाया ॥२७॥

(भक्ति धर्म्य क्यों ?)

धर्माद् यदनपेतं तद् धर्म्यं प्रेमैव मुख्यतः ।
सर्वथैवानपेतस्य मुख्यत्वं युज्यते यतः ॥ २८ ॥

धर्म से जोअनपेत हो उसे धर्म्य कहते हैं (धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते ऐसा पाणिनीय सूत्र है) और मुख्य धर्म्य तो प्रेम ही है। क्यों कि असंकुचित अनपेतता प्रेम में ही है अन्यत्र नहीं अत एव वह मुख्यार्थ है। (अनपेत का अर्थ है अनपगत या अपायशून्य। धर्म के स्वरूप का अपाय = हानि जिस में न हो वह धर्म से अनपेत है। अन्य सभी धर्म प्रायः धर्म्य नहीं है। कारण कालभेद देशभेद पुरुषभेदादि से धर्म भी अधर्म बन जाता है स्वरूपापाय हो जाता है। परंतु यह बात भक्ति में नहीं है)

तेपुस्तपस्तेऽजुहुवुः सस्नुर्ब्रह्माप्यनूचिरे ।
गृणन्ति सततं नाम तव ये श्वपचोऽपि वा ॥ २९ ॥

"अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्" इत्यादि भागवत श्लोक में बताया है कि उन्होंने तप किया, हवन किया, स्नान किया और वेदाध्ययन भी किया जो सतत आपका नाम लेते हैं। भले वह चाण्डाल ही क्यों न हो (शास्त्रकारोंकी मान्यता है कि संध्यावंदन के समय सन्ध्यावन्दन ही करना चाहिये। उस समय यदि यज्ञादि भी करें तो वह धर्मस्वरूप नहीं होगा। परंतु 'तेपुस्तपस्ते' इत्यादि भागवतवचन से प्रतीत होता है कि भगवद्भजन सर्वकर्मस्वरूप है। फलतः तत्तत्कर्मों के समय भी यदि भगवद्भजन ही करें तो धर्मापाय नहीं होता। अत एव भक्ति की धर्म्यता सुनिश्चित होती है) ॥२९॥

* एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः ।
भक्तियोगो भगवति यन्नामग्रहणादिभिः* ॥ ३० ॥

स्कन्दपुराण में बताया है-लोक में मानव का परम धर्म इतना ही है कि नामजपादि से भगवान में भक्ति हो। (परमधर्मसंपत्ति में उपधर्मलोप से धर्मलोप नहीं माना जा सकता अतः भक्ति की धर्म्यता इस श्लोक से स्पष्ट होती है) ॥३०॥

इत्यादि वचनव्रातैर्धर्म्यत्वमुपवर्णितम् ।
(भक्ति नालं=अनन्तप्यासरूप)
अलंमतिविहीनत्वमप्यन्यत्र प्रदर्शितम् ॥ ३१ ॥

ऐसे अनेकवचनों में भक्ति को धर्म्य बताया है। और नालं का अर्थ अलंमतिविहीनत्व भी अन्यत्र दिखाया है।

* वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे ।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे* ॥ ३२ ॥

शौनकादि ऋषियों का वचन है-हम भगवान की लीला सुनते हुए तृप्त नहीं होते। इस से सुनने वाले रसज्ञों को तो पद पद में रसानुभूति होती है (तृप्ति न होना ही तो प्यास है) ॥३२॥

* श्रुत्वाऽतिविस्मिता गोपा गोप्यश्चातिप्रियादृताः ।
प्रेत्यागतमिवौत्सुक्यादैक्षन्त तृषितेक्षणा*: ॥ ३३ ॥

दशमस्कन्धमें:—यह समाचार सुन कर गोपगोपियें विस्मित हुईं। मर कर वापिस आए के जैसे भगवान को प्यासी आँखों से उत्सुकता से देखने लगीं ॥३३॥

* व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहम् ।
शनैर्निःसीम ववृधे यथाकृष्णे त्वपूर्ववत्* ॥ ३४ ॥

धर्माद् यदनपेतं तद् धर्म्यं प्रेमैव मुख्यतः।
सर्वथैवानपेतस्य मुख्यत्वं युज्यते यतः ॥ २८ ॥

धर्म से जोअनपेत हो उसे धर्म्य कहते हैं (धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते ऐसा पाणिनीय सूत्र है) और मुख्य धर्म्य तो प्रेम ही है। क्यों कि असंकुचित अनपेतता प्रेम में ही है अन्यत्र नहीं अत एव वह मुख्यार्थ है। (अनपेत का अर्थ है अनपगत या अपायशून्य। धर्म के स्वरूप का अपाय = हानि जिस में न हो वह धर्म से अनपेत है। अन्य सभी धर्म प्रायः धर्म्य नहीं है। कारण कालभेद देशभेद पुरुषभेदादि से धर्म भी अधर्म बन जाता है स्वरूपापाय हो जाता है। परंतु यह बात भक्ति में नहीं है)

तेपुस्तपस्तेऽजुहवुः सस्नुर्ब्रह्माप्यनूचिरे।
गृणन्ति सततं नाम तव ये श्वपचोऽपि वा ॥ २९ ॥

"अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्" इत्यादि भागवत श्लोक में बताया है कि उन्होंने तप किया, हवन किया, स्नान किया और वेदाध्ययन भी किया जो सतत आपका नाम लेते हैं। भले वह चाण्डाल ही क्यों न हो (शास्त्रकारोंकी मान्यता है कि संध्यावंदन के समय सन्ध्यावन्दन ही करना चाहिये। उस समय यदि यज्ञादि भी करें तो वह धर्मस्वरूप नहीं होगा। परंतु 'तेपुस्तपस्ते' इत्यादि भागवतवचन से प्रतीत होता है कि भगवद्भजन सर्वकर्मस्वरूप है। फलतः तत्तत्कर्मों के समय भी यदि भगवद्भजन ही करें तो धर्मापाय नहीं होता। अत एव भक्ति की धर्म्यता सुनिश्चित होती है) ॥२९॥

* एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः ।

भक्तियोगो भगवति यन्नामग्रहणादिभिः* ॥ ३० ॥

स्कन्दपुराण में बताया है-लोक में मानव का परम धर्म इतना ही है कि नामजपादि से भगवान में भक्ति हो । (परमधर्मसंपत्ति में उपधर्मलोप से धर्मलोप नहीं माना जा सकता अतः भक्ति की धर्म्यता इस श्लोक से स्पष्ट होती है) ॥३०॥

इत्यादि वचनव्रातैर्धर्म्यत्वमुपवर्णितम् ।

(भक्ति नालं=अनन्तप्यासरूप)

अलंमतिविहीनत्वमप्यन्यत्र प्रदर्शितम् ॥ ३१ ॥

ऐसे अनेकवचनों में भक्ति को धर्म्य बताया है । और नालं का अर्थ अलंमतिविहीनत्व भी अन्यत्र दिखाया है ।

* वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे ।

यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे* ॥ ३२ ॥

शौनकादि ऋषियों का वचन है-हम भगवान की लीला सुनते हुए तृप्त नहीं होते । इस से सुनने वाले रसज्ञों को तो पद पद में रसानुभूति होती है (तृप्ति न होना ही तो प्यास है) ॥३२॥

* श्रुत्वाऽतिविस्मिता गोपा गोप्यश्चातिप्रियादृताः ।

प्रेत्यागतमिवौत्सुक्यादैक्षन्त तृषितेक्षणाः* ॥ ३३ ॥

दशमस्कन्धमें:—यह समाचार सुन कर गोपगोपियें विस्मित हुईं । मर कर वापिस आए के जैसे भगवान को प्यासी आँखों से उत्सुकता से देखने लगीं ॥३३॥

* व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहम् ।

शनैर्निःसीम ववृधे यथाकृष्णे त्वपूर्ववत्* ॥ ३४ ॥

ब्रह्माजी के मोहप्रसङ्ग में:—व्रजवासियों का अपने पुत्रोंमें (जिन के रूपमें स्वयं भगवान थे) एक साल तक प्रतिदिन प्रेम बढता ही गया अपूर्व वस्तु के समान नव नव होता गया, जिस की कोई सीमा ही नहीं रही जैसे कृष्णमें प्रेम बढता जा रहा था।

* यत्त्वां साक्षात् प्रपश्यामि नीचवंशभवाप्यहम् ।
तथापि याचे भगवंस्त्वयि भक्तिर्दृढा मम* ॥ ३५ ॥

रामायण में शवरी:—हे भगवन मैं नीच जाति में उत्पन्न होने पर भी आपका साक्षात्कार कर रही हूं। इस से बढकर अन्य वरदान क्या हो। फिर भी आप में दृढ-भक्ति हो यह वरदान मुझे दें (शवरी पहले से ही भक्त थी। फिर भी संतोष न हुआ) ॥३५॥

(व्याकरण)

ददाति नालमित्यत्र संज्ञात्वान्मो विलुप्यते ।
अलशब्दस्य वा रत्वमिति नाम समञ्जसम् ॥ ३६ ॥

न + अलं + द यहां "वाल-मूल-लघ्वलमङ्गुलीनां वा लो रमापद्यते" इस व्याकरणनियम से 'ल'को 'र' हुआ परंतु मकारका लोप संज्ञा होने से हुआ। अथवा न + अल + द इस अनव्यय लकार को संज्ञा होने से या क्वाचित्क रलयोर-भेदनियम से 'र' हुआ ॥३६॥

(देवर्षि में नारदशब्दार्थ की उपपत्ति)

* अन्यधर्मांस्तिरस्कृत्य पुरस्कृत्य महोत्सवान् ।
तदा नाहं हरेर्दासो लोके त्वां न प्रवर्त्तये* ॥ ३७ ॥

पद्मपुराण में भक्ति के प्रति नारद:—अन्य धर्मों का समादर न कर भगवान के महोत्सवों को बढा कर तुम्हें

लोक में जब तक प्रसारित न करूं तब तक मैं हरिदास नहीं हो सकूंगा ॥३७॥

* कलिना सदृशः कोऽपि युगो नास्ति वरानने ।
तस्मिंस्त्वां स्थापयिष्यामि गेहे गेहे जने जने* ॥३८॥

हे भक्ति ! कलि के सदृश सुन्दर कोई दूसरा युग नहीं है। उस में मैं तुम्हें घर घर पहुंचाऊंगा बच्चे बच्चे में उद्भूत करूंगा ॥३८॥

इत्युक्तत्वात्पुराणादौ सूत्रप्रणयनादपि ।
प्रेमप्रदातुर्देवर्षेर्नारदत्वमवस्थितम् ॥ ३९ ॥

उक्त पुराणवचन से और भक्तिसूत्र प्रणयन से प्रेम-प्रदाता नारद का नारद नाम सार्थक है ॥३९॥

(नार शब्द का तीसरा अर्थ)

भक्तिहेतुः परं ज्ञानं नारमित्यभिधीयते ।
तद्दानोऽपि लोकेभ्यो नारदः समुदीरितः ॥ ४० ॥

भक्ति हेतु परम ज्ञान को भी नार कहते हैं। उसे लोगों को देते हैं अतोऽपि नारद नाम पडा ॥४०॥

(तीसरे अर्थ की उपपत्ति)

* ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम् ।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया* ॥ ४१ ॥
इत्युपक्रम्य भगवान् ब्रह्मणे ज्ञानमभ्यधात् ।
नारदाय तदुक्त्वाथ ब्रह्मा तं समवोचत ॥ ४२ ॥
* इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतेरितम् ।
संग्रहोऽयं विभूतिनां त्वमेतद्विपुलीकुरु ॥ ४३ ॥

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति ।
सर्वात्मन्यखिलाधार इति संकल्प्य वर्णय* ॥ ४४ ॥
* नारदः प्राह मुनये सरस्वत्यास्तटे नृप* ।
इति पूर्वापरोक्त्या च निरुक्तार्थोऽवगम्यते ॥ ४५ ॥

"सविज्ञान, सरहस्य, साङ्ग. परमगुह्य ज्ञान मैं आप को कहता हूं सुनो" ऐसा उपक्रम कर भगवान नारायण ने चतुःश्लोकी भागवतात्मक ज्ञान ब्रह्माको बताया । ब्रह्माजीने वही ज्ञान कुछ विस्तार के साथ नारदजी को देकर कहा—"यह भागवत ज्ञान है, इसे मुझे भगवानने बताया, यह विभूतियों का संक्षेप है तुम इसका विस्तार करो । जिस से सर्वात्मा सर्वाधार भगवान हरि में मनुष्यों की भक्ति हो ऐसा संकल्प कर वर्णन करो"। नारदजीने वही ज्ञान सरस्वतीतीरस्थ भगवान वेदव्यास को बताया । भागवत में इसी क्रम से श्लोक नहीं है तथापि पूर्वापर योजना से यही क्रम आता है इन श्लोकों का खूब मनन करेंगे तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि भक्तिहेतु ज्ञान प्रदान नारदजीने किया ॥४१-४५॥

(नारद शब्दका चौथा अर्थ)

द्यति वा नारमज्ञानं प्रेम्णो यदभिभावकम् ।
तेनासौ नारदः प्रोक्तः प्रमाणं पूर्वदर्शितम् ॥ ४६ ॥

प्रेम को अभिभूत करने वाले अज्ञान को नष्ट करते हैं इसलिये भी नारद नाम हुआ । नार = अज्ञान द = नाशक । प्रमाण पूर्वोक्त है ॥४६॥

(नारदजीकी सूत्ररचना)

संसारपङ्कनिमग्नानुद्दिधीर्षुरसौ जनान् ।
भक्तिज्ञानप्रदं शास्त्रं रचयामास नारदः ॥ ४७ ॥

संसाररूपी कीचड में फँसे हुए लोगों का उद्धार करने के लिये भक्तिविषयकज्ञानका प्रदायक शास्त्रनिर्माण नारदजीने किया ॥४७॥

(नारदीय सूत्रोंकी अपूर्वतामें प्रश्नोत्तर)

ननु जैमिनिनोपास्तिकाण्डं व्याख्यायि विस्तरात् ।
सत्यं निरूपितोपास्तिः प्रत्ययावृत्तिलक्षणा ॥ ४८ ॥
प्रत्ययावृत्तिरूपत्वं न च भक्तेः समिष्यते ।
प्रेमलक्षणभक्तिस्तु पृथगेव ततो मता । ४९॥

पूर्वपक्ष :—महर्षि जैमिनिने विस्तारसे उपासनाकाण्ड का व्याख्यान किया । अतः भक्तिसूत्रों की क्या जरुरत ?

उत्तरः—प्रत्ययावृत्तिरूप उपासना का वर्णन किया । भक्ति प्रत्ययावृत्तिरूप नहीं है किन्तु उससे पृथक् ही प्रेम-रूपिणी है ॥४८–४९॥

अश्वपृष्ठद्युदृष्ट्यादिरुपास्तिः सुवचा भवेत् ।
प्रेमलक्षणभक्तिस्तु कुतस्तत्र प्रसज्यते ॥ ५० ॥

अश्वमेधीय अश्व को लेकर उपासना का विधान किया है–"द्यौःपृष्ठमन्तरिक्षमुदरं" इत्यादि । भला घोडे की पीठ को देवलोक के रूप में प्रत्ययावृत्ति करने के लिये प्रेम-लक्षणा भक्ति की क्या आवश्यकता पडी ? ॥५०॥

(कर्म, उपासना और भक्तिमें भेद)

बाह्यं स्यात्कर्म यज्ञादि कर्मोपास्तिश्च मानसम् ।
न बाह्यं नान्तरं कर्म भक्तिर्या प्रेमलक्षणा ॥ ५१ ॥

यज्ञादि बाह्यकर्म है, उपासना मानसकर्म है। किन्तु भक्ति न बाह्यकर्म है और न आन्तर कर्म है। वह तो प्रेमरूप है दोनों से विलक्षण है ॥५१॥

(शाण्डिल्यादि सूत्रों से गतार्थ नहीं)

नन्वेवमपि शाण्डिल्यादयो भक्तिं न्यरूपयन्।

सत्यं, न्यरूपयन् मिश्रां न तु शुद्धां यथायथम् ॥ ५२ ॥

पूर्वपक्षः—शाण्डिल्यादि ऋषियोंने भक्तिका निरूपण किया है इस लिये नारदीय सूत्रोंकी क्या आवश्यता ?। उत्तरः—शाण्डिल्यादि ने मिश्रा भक्ति का निरूपण किया शुद्ध भक्ति का यथावत् निरूपण नहीं किया ॥५२॥

(त्रिविधा भक्ति)

तथा ह्यारोपसिद्धाऽङ्गसिद्धा सिद्धा स्वरूपतः।

इत्येवं त्रिविधा भक्तिर्बुधैः शास्त्रेषु वर्णिता ॥ ५३ ॥

इसी बात को कुछ विस्तार से देखें:—भक्ति तीन प्रकारकी मानी गयी है—आरोपसिद्धा, अङ्गसिद्धा और स्वरूपसिद्धा ॥५३॥

(आरोपसिद्धा भक्ति)

योगोपास्त्यादिराद्या स्यात्तस्यामारोप्यते हि सा।

उपास्तिकाण्डं केचिद्धि भक्तिकाण्डं ततो विदुः ॥ ५४ ॥

इन में योग उपासना आदि आरोपसिद्धा भक्ति है। अत एव उपासना काण्ड भक्तिकाण्ड से प्रसिद्ध हुआ ॥५४॥

चित्तैकाग्र्याददृष्टाच्च भक्तिर्यत्स्यादुपास्तितः।

लाङ्गलं जीवनमिति न्यायात्तां भक्तिमूचिरे ॥ ५५ ॥

उपासनादि से चित्त की एकाग्रता और अदृष्टविशेष के द्वारा भक्ति होती है। अतः भक्तिका कारण होने से

उस को भक्ति कहा। जैसे लोक में प्रयोग होता है–किसान का जीवन हल है ॥५५॥

न च वाच्यं भक्तिता स्यादेवं हि ज्ञानकर्मणोः ।
अनैयत्यादप्रसिद्धेः स्थितमात्रं हि चिन्त्यते ॥ ५६ ॥

यदि भक्तिकारण होने से योगादि को भक्ति कहा तो ज्ञान और कर्म भी भक्तिकारण होने से उन्हें भी भक्ति क्यों न कहा जाए ? उत्तर यह कि उपासक ब्रह्म लोक जाता है तो ब्रह्म भक्त होने से उस को नियमतः भक्ति होती है। ज्ञान और कर्म में ऐसी बात नहीं। दूसरी बात यह कि उपासना के समान ज्ञान और कर्म भक्तिरूप से प्रसिद्ध नहीं है। 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' इस न्याय से उपासनामात्रमें भक्तिपदव्यवहार की उपपत्ति ढूंढनी चाहिये।

भगवत्यर्पितं कर्मारोपसिद्धेति केचन ।
तच्चिन्त्यं तस्य भक्तित्वं साक्षादेवोपगम्यते ॥ ५७ ॥

भगवान में अर्पित कर्म आरोपसिद्ध भक्ति है ऐसा जीवगोस्वामी आदि का मत है। परंतु वह समीचीन प्रतीत नहीं होता। कारण, भगवदर्थ कर्म को साक्षात् भक्ति ही माना है ॥५७॥

तदर्पिताखिलाचारत्वादिकं भक्तिलक्षणम् ।
सूत्रकारेणैव तावच्छास्त्रेऽस्मिन् वर्णयिष्यते ॥ ५८ ॥

स्वयं सूत्रकार ही इस शास्त्र में आगे भक्ति का लक्षण बतायेंगे–तदर्पिताखिलाचारता० इत्यादि ॥५८॥

* सुरर्षे विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया ।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता तया भक्तिः परा भवेत्* ॥५९॥

हे नारदजी! हरिके उद्देश्य से किया गया शास्त्रीय कर्म ही भक्ति है उससे परा भक्ति होती है। ॥ ५९ ॥

इत्येवं पाञ्चरात्रोक्त्या कर्मणो भक्तिता स्थिता।
हरिमुद्दिश्य सर्वेषां कर्मणामुपलक्षणम् ॥ ६० ॥
हरिमुद्दिश्य विहिता क्रिया या सैव नारद।
शास्त्रे भक्तिरिति प्रोक्ता इति वा योजनेष्यताम् ॥६१॥

इस पाञ्चारात्रवचन से कर्म की भक्तिरूपता सिद्ध होती है। भगवदुद्देश्य से केवल शास्त्रोक्त कर्म ही नहीं अपि तु सभी कर्म भक्ति है। अतः शास्त्रे यह उपलक्षण है ॥ ६० ॥ अथवा हरिके उद्देश्य से की हुई जो भी क्रिया है, वही शास्त्रों में भक्ति बतायी है इस प्रकार 'शास्त्रप्रोक्ता' ऐसी योजना करके अर्थ समझना चाहिये ॥ ६१ ॥

* यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्* ॥ ६२ ॥
इत्येवमविशेषेण गीतास्वखिलकर्मणाम्।
भगवत्यर्पणस्योक्तेरुक्तार्थोऽत्राधिगम्यते ॥ ६३ ॥

हे अर्जुन! तुम जो करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो देते हो जो तप करते हो सबको मुझे समर्पण करो। ॥६२॥ इस प्रकार गीतामें अविशेषरूप से सर्वकर्मार्पण कहने से उपरोक्तार्थ सिद्ध होता है। ॥६३॥

* तस्मिन् समर्पितं कर्म स्वाभाविकमपीश्वरे।
भवेद्भागवतं कर्म*त्येवं स्कान्देऽपि दर्शनात् ॥ ६४ ॥

उस परमेश्वरमें समर्पित स्वाभाविक कर्म भी भागवत धर्म है इस प्रकार स्कन्द पुराणमें भी आया है।

नन्वेवं कर्मरूपत्वं प्राग् भक्तेर्यत्पराकृतम् ।
विरुध्येतेति चोन्मैवमङ्गसिद्धात्मकत्वतः ॥ ६५ ॥

यदि कर्म भी भक्ति है तो पहले भक्ति कर्मरूप नहीं ऐसा कैसे कहा? उत्तर यह कि भगवदर्पित कर्म अङ्गसिद्धा भक्ति है। पूर्व प्रेमलक्षणा भक्ति प्रस्तुत थी।

किं चेशसङ्गाद्दिव्यं सत् कर्म भक्तिः परा क्रमात् ।
तदुक्तं पाञ्चरात्रोक्तौ*तया भक्तिः परा भवेत्* ॥६६॥

दूसरी बात, भगवत्संग से कर्म भी दिव्य होकर क्रमेण पराभक्तिरूप बन जाता है। अर्थात् उसमें कर्मत्व ही नहीं रहेगा। यही पूर्वोक्त पाञ्चरात्रवचनमें तया भक्तिःपरा भवेत् इस चतुर्थपादका अर्थ है। ॥ ६६ ।

* शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः* ।
इत्यत्र प्रकटीचक्रे भगवानिममाशयम् ॥ ६७ ॥

हे अर्जुन कर्मोंको भगवदर्पित करने से कर्मबन्धन से मुक्त हो जाओगे इस उक्ति से भगवानने गीतामें यही आशय प्रकट किया। अर्थात् भगवत्संगसे कर्ममें कर्मत्व न होने से वह बन्धन कारण नहीं होता। ॥६७॥

तस्मादुपासनादिर्हि भक्तिरारोपितात्मिका ।
भगवद्विषयत्वे तु सापि भक्तिर्न संशयः ॥ ६८ ॥

इस लिये अश्वपृष्ठद्युदहृयादि उपासना ही आरोपित भक्ति है। यदि उपासना भगवद्विषयक हो तो वह भी भक्ति ही है। ॥ ६८॥

(अङ्गसिद्धा भक्ति और उसका भेद)

कर्ममिश्रा ज्ञानमिश्रोभयमिश्रेति च त्रिधा ।
अङ्गसिद्धां जगुर्भक्तिं भक्तिलक्षणकोविदाः ॥ ६९ ॥

अङ्गसिद्धा भक्ति तीन है-कर्ममिश्रा, ज्ञानमिश्रा और उभयमिश्रा । ॥ ६९ ॥

पूजादिर्विधितः प्राप्तः कर्ममिश्रेत्युदीर्यते ।

ज्ञानयुक्ता ज्ञानमिश्रा सर्वं चाग्रे प्रवक्ष्यते ॥ ७० ॥

विधि प्राप्त पूजादि कर्ममिश्रा और ज्ञानसहित ज्ञानमिश्रा है । इस विषयमें विशेष वक्तव्य आगे मिलेगा ।

शुद्धां भक्तिं समाचख्यौ देवर्षिः करुणानिधिः ।

भगवान्नारदः शास्त्रे सूत्रं यत्रेदमादिमम् ॥ ७१ ॥

शुद्धा भक्तिका निरूपण करुणानिधि देवर्षि भगवान नारदने किया । वही यह भक्तिशास्त्र है । जिसमें यह प्रथम सूत्र है:—

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

परम पुरुषार्थ होने से हम भक्तिकी व्याख्या प्रस्तुत करेंगे ॥

(अथ शब्दका प्रारंभ अर्थ और मंगलरूपता)

प्रस्तावस्त्वधिकाराख्य उच्यतेऽत्राथशब्दतः ।

मङ्गलं श्रवणादेव शङ्खशब्दादिवद्भवेत् ॥ ७२ ॥

सूत्रमें अथ शब्दका अधिकार अर्थ है । अधिकार को ही प्रस्ताव, आरंभ आदि कहते हैं । यद्यपि अथ शब्द मंगलार्थ प्रयुक्त होता है । तथापि जिस प्रकार शंखादि की आवाज मंगलात्मक होती है वैसे अथ शब्दकी आवाज ही मंगलात्मक है । अथ शब्दका इतर पदार्थों से अन्वीयमान अर्थ तो मंगलपदार्थ नहीं किन्तु अन्य ही होता है । वह प्रकृतमें प्रारंभ ही है । ॥ १ ॥

* ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ* ॥७३॥

ओंकार तथा अथ शब्द ये दोनों ब्रह्माजी के कण्ठ से प्रथम सहसा निर्गत हुए । अतः ये दोनों मांगलिक हैं ।

(अथ शब्दका अनन्तर अर्थ नहीं)

आनन्तर्यं तु नैवार्थः कारणानुपलम्भतः ।
* भक्त्या संजातया भक्त्ये*त्यन्यहेतोरपोहनात् ॥ ७४ ॥

अथ शब्द का अनन्तर अर्थ नहीं है । ब्रह्मजिज्ञासा में साधनचतुष्टय जिस प्रकार नियतपूर्ववर्ती है वैसे भक्ति में कोई अन्य नियतपूर्ववर्त्ती देखने में नहीं आता । बल्कि भक्ति से भक्ति होती है कह कर श्रीमद्भागवत में अन्य कारणका निराकरण ही किया है । तब किस के अनन्तर भक्ति कही जा सकेगी ? ॥७४॥

(जातिप्राप्त्यनन्तर अर्थ नहीं)

तथा हि ब्राह्मणत्वादिजातिस्तद्धेतुकर्म वा ।
नात्रास्त्यपेक्षितं येन तदानन्तर्यमिष्यते ॥ ७५ ॥

ब्राह्मणत्वादि जातिप्राप्ति या उस के कारण कर्म की भक्ति में अपेक्षा नहीं है अतः अथ शब्दका उक्त जाति प्राप्ति आदि अनन्तर अर्थ नहीं है ॥७५॥

* कीटपक्षिमृगाणां च हरौ संन्यस्तचेतसाम् ।
ऊर्ध्वमेवागतिं मन्ये इति जातेरपाकृतेः* ॥ ७६ ॥

कीट पक्षी एवं मृग भी भगवान में मन लगायें उनकी भी ऊर्ध्वगति होती है इस वचन से जातिका अपाकरण किया है ॥७६॥

* मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्* ॥७७॥

हे अर्जुन ! मेरी शरण में आये हुए पापयोनि, स्त्री, वैश्य तथा शूद्र भी परमगति को प्राप्त होते हैं ॥७७॥

पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा जातिनामाश्रमादयः ।
न कारणं मद्भजने भक्तिरेव हि कारणम् ॥ ७८ ॥

पुरुष, स्त्री, जाति, नाम एवं आश्रमादि सभी मेरे भजन में कारण नहीं है । मेरे भजन में भक्ति ही कारण है। (रामायणवचन)

(जन्मान्तरीयसत्कर्मानन्तर अर्थ नहीं)

एतेन पूर्वजन्मीयं कर्म जातिप्रयोजकम् ।
मा भूत् कर्मान्तरं हेतुरस्त्वित्यपि पराहतम् ॥ ७९ ॥

जातिप्रयोजक कर्म कारण भले न हो, अन्य पूर्वकृत सत्कर्म तो कारण हो सकता है अतः तदनन्तर अर्थ क्यों न किया जाए ? इस का उत्तर आगे विस्तार से देखें।

* यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।*
यदृच्छयेति भगवत्कृपयेति विवृण्वते ॥ ८० ॥

श्री भागवतः–यदृच्छा से भगवत्कथादि में श्रद्धा होती है। यहां यदृच्छया का अर्थ विद्वानों ने किया भगवत्कृपया ।

भाग्योदयेन केनापीत्यर्थं टीकाकृदब्रवीत् ।
तत्र पूर्वकृतं कर्म न भाग्यपदशब्दितम् ॥ ९१ ॥
केनापीति ह्यनिर्वाच्यभाग्यस्यैव प्रदर्शनात् ।
भगवत्करुणारूपं भाग्यं तेनापि लभ्यते ॥ ९२ ॥

'यदृच्छया' का किसी भाग्य के उदय से ऐसा अर्थ टीकाकार श्री श्रीधरस्वामी ने किया है। परंतु वहाँ भी भाग्यपद का लोकप्रसिद्ध प्रारब्ध विशेषरूपी पूर्वकर्म अर्थ नहीं है। क्यों कि उन्होंने 'केनापि' इस विशेषण से अनिर्वचनीय भाग्यको दिखाया है। इस से भगवत्कृपारूपी भाग्य भी अर्थ निकल सकता है॥८१-८२॥

भगवत्कृपयेत्येव कुतो नोक्तं तदेति चेत्।
क्वचित् सत्कर्मतोऽप्येव सा स्यादिति तदाशयात् ॥९३॥
धर्मादिभिश्च संसाध्या भक्तिरेवेति दर्शितम्।
क्वाचित्कत्वात्तु नैवात्र तदानन्तर्यमाश्रितम् ॥ ९४ ॥

शंका हो सकती है कि तब श्रीधरस्वामीने भगवत्कृपया अर्थ ही क्यों नहीं किया? उत्तर यह कि कहीं सत्कर्मादि से भी तो भक्ति संभव है ॥८३॥

प्रारंभ ही में हम धर्मादिका साध्य भक्ति है यह दिखा चुके हैं। परंतु नियमपूर्वक धर्मादि पूर्व न होने से तदनन्तर अर्थ नहीं किया ॥८४॥

येन भाग्येन संपन्नं सत्कर्मास्य पुरा तथा।
श्रद्धादिरपि किं न स्यात्ततोऽनिर्वाच्यता स्थिता ॥९५॥

फिर यह भी प्रश्न होगा कि श्रद्धाका कारण पूर्वसत्कर्म किस भाग्य से हुआ? उसी भाग्य से श्रद्धा भक्ति भी क्या नहीं हो सकेगी? ऐसी स्थितिमें दलाल के रूपमें मध्यस्थित सत्कर्मकी अन्यथासिद्धि नहीं होगी? अतः अनिर्वचनीय भाग्य कहना ही ठीक है यही टीकाकार का आशय है ॥ ८५ ॥

(इहजन्मीयसत्कर्मानन्तर अर्थ भी नहीं)

न चेहजन्मविहितसत्कर्मानन्तरार्थता ।

अतद्विधानामपि च नराणां भक्तिदर्शनात् ॥ ९६ ॥

पूर्वजन्मीय सत्कर्म न सही, वर्त्तमान जन्मकृत सत्कर्मानन्तर अर्थ क्यों न हो ? उत्तर यह, एतज्जन्मीय सत्कर्मशून्य व्यक्ति को भी भक्ति होती है ऐसा शास्त्रों में देखने को मिलता है। ॥ ८६ ॥

* अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः* ॥ ९७ ॥

सुदुराचारभजनं सिद्धवत्कृत्य गायता ।

सदाचारानन्तरत्वमपास्तं हरिणा स्वयम् ॥ ९८ ॥

हे अर्जुन ! महादुराचारी ही क्यों न हो, अनन्य भावसे मेरा भजन करता है तो वह सत्पुरुष ही माना जाएगा । क्यों कि वह अब ठीक रास्ते पर ही है इस गीता वचनमें महादुराचारी भजन करनेवाले को उद्देश्य रख कर साधुता का विधान है । उद्देश्य सिद्धार्थ होता है । उस सिद्धार्थकथनसे सदाचारानन्तरत्वका स्वयं भगवान् ही निरास कर रहे हैं । ॥८७-८८॥

न वा निष्फलता तस्याः फलस्यानन्तरोक्तितः ।

* क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति* ॥९९॥

शूद्रादिकृत वाजपेयादि के समान वह भक्ति व्यर्थ है यह भी नहीं कह सकते । क्यों कि बाद ही वह धर्मात्मा होता है परमशान्ति प्राप्त करता है ऐसा फल भी बताया है । ॥ ८९ ॥

(सद्गुणप्राप्ति के अनन्तर अर्थ नहीं)

सद्गुणानन्तरत्वं च नात्र संभवदुक्तिकम् ।
गुणहेतुत्वकथनाद् भक्तेर्भागवतादिषु ॥ ९० ॥

कर्मानन्तर न हो, गुणानन्तर अर्थ क्यों न माना जाय? उत्तर इसका भागवतादिमें भक्तिको ही गुणोंका कारण कहने से मिल जाता है। ॥ ९० ॥

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यखिलास्तत्र सद्गुणाः ।
हरावभक्तस्य कुतोऽसति बाह्ये प्रधावतः ॥ ९१ ॥

'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना' इत्यादि भागवत श्लोकमें कहा है कि जिसकी भगवानमें भक्ति हो उसमें सभी सद्गुण आ जाते हैं। हरिमें भक्ति किये बिना बाह्य असत् पदार्थोंमें भटकनेवालों के अंदर भला सद्गुण कहाँ से आ सकते हैं। ॥ ८१ ॥

(अथ शब्दका अध्ययनाद्यनन्तर अर्थ नहीं)

* ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ।
अव्रतातप्ततपसो मत्सङ्गान्मामुपागताः* ॥ ९२ ॥

श्रीमद्भागवतमें वृषपर्वा, व्याध, कुब्जा, गोपियां आदि का उपक्रम कर आगे बताया कि उन्होंने न श्रुतियोंका अध्ययन किया, न गुरूपासना की, न व्रत तप किया अथ च मेरे संगरूपी भक्ति से मुझे प्राप्त हो गये। (मत्सङ्गात् की जगह सत्सङ्गात् ऐसा आधुनिक मुद्रित पाठ अशुद्ध है। क्यों कि भक्तिरसायनमें साक्षात् भगवत्सेवा के उदाहरणमें इस श्लोक का उद्धरण दिया है। वैसे ही भक्तिरसामृतसिन्धुमें भी है। श्रीधरी टीका से भी मत्संगात् ही पाठ सिद्ध होता है। नोपासितमहत्तमाः यह विशेषण भी इसी पाठमें सुसंगत होता है)। ॥ ९२ ॥

* केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ।

येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा* ॥९३॥

केवल भाव मात्रसे गोपिकाएं, गायें, पर्वत, मृग एवं अन्यान्य जो मूढमति हैं जैसे नाग (कालिय) आदि, वे भी सिद्ध हो कर मुझे आसानी से प्राप्त हो गये । ॥ ९३ ॥

* तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै महात्मनः ।

न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह* ॥ ९४ ॥

अतः मेरे भक्त अतएव योगी महात्मा के लिये प्रायः न ज्ञान की आवश्यकता होती है और न वैराग्य की ही और परमकल्याण भी होता है । ॥ ९४ ॥

* बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।

प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥ ९५ ॥

इन्द्रियजयी न होने से विषयों से बाधित होने पर भी मेरा भक्त अपनी उत्कृष्ट भक्ति ही के कारण विषयों से अभिभूत नहीं होता। ॥ ९५ ॥

इत्यधीतिव्रततपोज्ञानवैराग्यसंयमाः ।

न पूर्ववर्त्तिनो भक्तेर्नियमेनेति गम्यते ॥ ९६ ॥

ऊपर दिखाये गये प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्ययन, व्रत, तप, ज्ञान, वैराग्य तथा संयमादिमें कोई भी भक्ति के नियत पूर्ववर्त्ती नहीं हैं । ॥ ९६ ॥

* किं वेदैः किमु शास्त्रैर्वा किं वा तीर्थनिषेवणैः ।

विष्णुभक्तिविहीनानां किं तपोभिः किमध्वरैः* ॥९७॥

* किं तस्य बहुभिः शास्त्रैः किं तपोभिः किमध्वरैः ।

वाजपेयसहस्रैर्वा भक्तिर्यस्य जनार्दने* ॥ ९८ ॥

बृहन्नारदीय के ये दो श्लोक भी द्रष्टव्य हैं—वेद, शास्त्र, तीर्थसेवन तप और यज्ञ से क्या फल यदि विष्णु भक्ति न हो। और यदि विष्णुभक्ति हो तो शास्त्र तप यज्ञादि से क्या प्रयोजन ? ॥ ९८–९९ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामन्यथासिद्धिरेतयोः ।
शास्त्राध्वरतपस्तीर्थप्रभृतेरुपदर्शिता ॥ ९९ ॥

उक्त दो श्लोकोंमें अन्वय तथा व्यतिरेक से (भक्ति हो तो शास्त्रादि से क्या प्रयोजन यह अन्वय और भक्ति न हो तो शास्त्रादि का क्या फल यह व्यतिरेक) भक्ति की ही कारणता सिद्ध होती है। शास्त्रादि तो अन्यथा-सिद्ध ही निश्चित होता है। ॥ ९९ ॥

(प्रायश्चित्तानन्तरे अर्थ नहीं)

प्रायश्चित्तानन्तरत्वमपि यागादिवन्नहि ।
प्रायश्चित्तस्वरूपत्वं स्वय भक्तेर्यतो मतम् ॥ १०० ॥

अश्वमेधादि याग करने के लिये प्रथम प्रायश्चित से आत्मशुद्धि करना आवश्यक है। परंतु भक्ति के लिये प्रायश्चित्त अपेक्षित नहीं है। कारण भक्ति स्वयं प्रायश्चित्त स्वरूप है। ॥ १०० ॥

* यथाग्निः सुससिद्धाग्निः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः* ॥ १०१ ॥

श्रीमद्भागवतः—जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि लकडी को भस्म कर देती है वैसे ही हे उद्धव! मेरी भक्ति समस्त पापों को भस्म कर देती है। ॥ १०१ ॥

यन्नामधेयश्रवणकीर्त्तनस्मरणादितः ।
श्वादोऽपि कल्पते सद्यः सवनाय हि पावनः ॥ १०२ ॥

भगवान के नाम श्रवण कीर्त्तन स्मरणादि से चाण्डाल भी उसी समय पावन होकर यागादि कर्म करने योग्य होता है। ॥ १०२ ॥

* स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कारकर्मभिः ।
मत्स्मृत्या चात्मनः शौचं शुद्धः कर्म समाचरेत्* ॥१०३॥

जैसे स्नान, दान, तपोनिष्ठा, दया संस्कारादि कर्मों से वैसे मेरे स्मरण से भी आत्मशुद्धि होती है। शुद्ध होने पर वैदिकादि कर्म करें। ॥ १०३॥

मत्स्मृत्या चेति हि पृथक् स्वातन्त्र्यादगदीद्धरिः ।
तथा च स्पष्टमेवैतदन्यत्र विनिरूपितम् ॥ १०४ ॥

पूर्वश्लोकमें मत्स्मृत्या च यह पृथक् पाठ छन्दोरक्षार्थ नहीं, अपि तु भगवत्स्मरणको स्वतन्त्र आत्मशोधक बताने के लिये है। यह बात अन्यत्र स्पष्ट की गयी है। ॥१०४।

केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः ।
अघं धुन्वन्ति कात्स्न्येन नीहारमिव भास्करः ॥१०५॥

भगवद्भक्त केवल भक्ति से संपूर्ण पापों को दूर करते हैं, जैसे सूर्य भगवान् कोहिरे को। ॥ १०५ ॥

स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग् ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे ॥ १०६ ॥
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥ १०७ ॥

चोर, शराबी, मित्रद्रोही, ब्रह्मघाती, गुरुदारगामी, स्त्री राजा पिता और गायोंका हन्ता एवं अन्य भी जो पातकी है, उन सब पापियों के लिये यही उत्तम प्रायश्चित्त है कि भगवन्नाम जप करें जिससे भगवानमें मति हो ॥

* अप्रारब्ध फलं पापं कूटं बीजं फलोन्मुखम् ।
क्रमेणैव विलीयन्ते विष्णुभक्तिरतात्मनाम्* ॥ १०८ ॥

फल जिनका प्रारंभ नहीं हुआ है ऐसे पाप तीन प्रकार के होते हैं । कूट (जो संचितरूप से दबा पडा है) बीज (जो सहकारी की अपेक्षा मात्र रखता है) और फलोन्मुख (जो सहकारी कारण को प्राप्त कर चुका है और अविलंब फल देनेवाला है) ये तीनों ही विष्णुभक्ति परायण महापुरुषों के क्रमशः विलीन हो जाते हैं । ॥१०८॥

अप्रारब्धमिव क्वापि प्रारब्धमपि हन्ति या ।
प्रायश्चित्तं तदर्थं तु कारणं कथमिष्यताम् ॥ १०९ ॥

अप्रारब्ध के समान कहीं कहीं प्रारब्ध को भी जो नष्ट करे उस भक्ति के लिये प्रायश्चित्त भला कैसा कारण ?

* आधयो व्याधयो यस्य स्मरणान्नामकीर्त्तनात् ।
तदैव विलयं यान्ति तमनन्तं नमाम्यहम्* ॥ ११० ॥

आधि और व्याधि जिसके स्मरण और नाम कीर्त्तन से तत्काल विलीन होते हैं उस अनन्त भगवानको मेरा प्रणाम है । यहां प्रारब्ध नाश स्पष्ट है । ॥ ११० ॥

(भक्ति प्रायश्चित्तरूपा कैसे ? इसमें पूर्वपक्ष और सिद्धान्त)

ननु भक्त्यैव पापानां नाश इत्यसमञ्जसम् ।
मुचुकुन्दस्य भक्तस्य पापनाशानवेक्षणात् ॥ १११ ॥

पूर्वपक्षः—भक्ति के पापनाश की बात संगत नहीं है। भक्त मुचुकुन्दका पाप नाश नहीं हुआ यह भागवतमें आया है। ॥ ११० ॥

* न पादसेवनादन्यत् कामयेऽहं वरं हरे।
त्वामाराध्य वरं को वा वृणीयादात्मबन्धनम् ॥११२॥
तस्माद्विसृज्य सकला आशिषो गुणबन्धनाः।
त्वां परं पुरुषं देवं ज्ञप्तिमात्रं व्रजाम्यहम् ॥ ११३ ॥
अनुतापैस्तप्यमानः समुपेतो भवत्पदम्।
आपन्नं मां शरणद परात्मन्नीश पाहि माम्* ॥११४॥

मुचुकुन्दः—हे भगवन् आपकी चरणसेवा से अतिरिक्त मैं कुछ भी नहीं चाहता। आप की आराधना कर कौन बंधनकारी वर चाहेगा?। इस लिये बंधनकारी समस्त कामनाओं को छोडकर ज्ञानस्वरूप परमपुरुष भगवानकी शरण लेता हूँ। मैं पूर्व प्रमाद के अनुताप से संतप्त हूँ। आप के चरणोंमें शरणागत हूँ! हे प्रभो! शरणागतवत्सल! परमात्मन्! आपत्तिमें पडे हुए मेरी रक्षा करो। ॥११२–११४॥

व्रजामीत्यादिना स्पष्टं भक्तिरत्र निदर्श्यते।
षोढा च शरणापत्तिरीक्ष्यतेऽत्र तदीरिता ॥ ११५ ॥

'त्वां व्रजामि' इत्यादि मुचुकुन्द के शब्दों से स्पष्ट ही उनकी भक्ति व्यक्त होती है। बल्कि षोढा शरणागति ही यहाँ पर मालूम पडती है। ॥ ११५ ॥

* आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यविवर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा ॥ ११६ ॥

आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः*

इत्येवं शास्त्रनिर्दिष्टा मुचुकुन्देऽवलोक्यते ॥ ११७ ॥

भगवान को हमेशा अनुकूल समझना, प्रतिकूल कभी न सोचना, रक्षा करेंगे ऐसा विश्वास रखना, रक्षा के लिये भगवान के आश्रयमें जाना. भगवान पर सब छोड देना, दीनभाव रखना ये छः प्रकारकी शरणागति, जो शास्त्रोंमें बतायी गयी है ऊपर के श्लोकों को देखने से मुचुकुन्दमें पायी जाती है।॥ ११६–११७ ॥

शरणागतिरूपायां भक्तौ सत्यामपि स्फुटम् ।

निगदत्यन्यथैवात्र मुचुकुन्दं जगत्पतिः ॥ ११८ ॥

शरणागतिरूप भक्ति के होने पर भी मुचुकुन्द के प्रति जगत्पति भगवान् और ही बात कर रहे हैं। ॥११९॥

* क्षात्रधर्मस्थितो जन्तूनवधीर्मृगयादिभिः ।

समाहितस्तत्तपसा जह्यघं मदपाश्रयः ॥ ११९ ॥

जन्मन्यनन्तरे राजन् सर्वभूतसुहृत्तमः ।

भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामन्ते ब्रह्म यास्यसि* ॥१२०॥

हे राजन्। आपने क्षात्र धर्ममें स्थित होकर शिकार आदिमें अनेक जन्तुओं को मारा। अतः एकाग्रचित्त होकर तप करते हुए और मेरा आश्रय लेते हुए उन पापों को नष्ट करो। दूसरे जन्ममें आप सर्व प्राणियों के सुहृत् ब्राह्मण होकर अन्तमें मुझ ब्रह्मको प्राप्त हो जाओगे ॥

पश्यतोऽपि हरिं पापनाशोऽत्र तपसोच्यते ।

नान्यानपेक्षिता भक्तेः प्रायश्चित्तात्मताप्यतः ॥ १२१ ॥

साक्षात् भगवानका दर्शन करनेवाले मुचुकुन्द को भो पाप नाश के लिये तपस्या करने कहा जा रहा है। इस से यह सिद्ध होता है कि भक्ति न तो अन्यनिरपेक्ष है और न प्रायश्चित्तरूप ही। ॥ १२१ ॥

किं चार्जुनो जगामैव नरकं भ्रातृभिः सह।
भक्तोऽसि मे सखा चेति यमाह भगवान् स्वयम् ॥१२२॥

और अर्जुन भीमादि अपने भाईओंके साथ नरक गया था जिसको लेकर भगवानने स्वयं कहा कि तुम मेरे भक्त भी हो सखा भी हो। ॥ १२२ ॥

* अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।*
इति चाह हरिस्तच्च वितथं समजायत ॥ १२३ ॥

गीता में कहा कि हे अर्जुन मैं तुम्हें सब पापों से छुडाऊँगा. शोक मत करो। यह भगवान का वचन भी झूठा हो गया। ॥ १२३ ॥

अत्रोच्यते बहुतरप्रमाणैरुपदर्शितम्।
प्रायश्चित्तस्वरूपत्वं भक्तेर्नापोहितुं क्षमम् ॥ १२४ ॥

सिद्धान्तः--समाधान यह है कि पहले अनेक प्रमाणों से भक्ति की प्रायश्चित्तरूपता जो दिखायी उसका निराकरण अर्थवादात्मक दृष्टान्त से करना अशक्य है। (स्पष्टीकरण आगे १५३ श्लोक से देखेंगे)। ॥ १२४ ॥

* सर्वकर्मबहिर्भूतः सर्वपापयुतस्तथा।
मुच्यते नात्र सन्देहो विष्णोर्नामानुकीर्त्तनात्* ॥ १२५ ॥

* अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि।
यद् व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः* ॥१२६॥

* अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्त्तिते सर्वपातकैः ।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्वृकैरिव* ॥ १२७ ॥
* अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् ।
संकीर्तितमघं पुंसां दहत्येधो यथानलः* ॥ १२८ ॥

सर्वकर्मवहिष्कृत, सर्व पापयुक्त भी भगवन्नाम से मुक्त होता है। जन्मकोटि पाप का भी यही प्रायश्चित्त कि विवश भी हरि नाम जो लिया। विवश होकर भी भगवन्नाम लेने पर सिंह से डरे भेडिये के समान पाप भाग जाते हैं। अनजानमें या जानकर कैसा भी भगवन्नाम लें वह पापको जला देगा। अग्नि को जानकर या अनजानमें भी छुओ वह जलायेगी ही ॥ १२७-१२८ ॥

* सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः* ॥ १२९ ॥

किसी भी प्रकार भगवन्नाम ग्रहण सर्वपापहारी है। जैसे संकेतरूपमें (कृष्णजन्ममें आना यह नायिकावचन अर्धरात्रिका संकेत है) परिहास के रूपमें (तुम तो कृष्ण भगवान हो यह काले आदमीका परिहास है) स्तोभ के रूप में (घर में राम रावणयुद्ध चल रहा इत्यादि) हेलन के रूपमें (कृष्ण राम जो हो कागज़का कचरा न करो इत्यादि) नाम लिया जाता है तो वह भी व्यर्थ नहीं जाएगा।

* कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्त्तते ।
भस्मीभवन्ति तस्याशु महापातककोटयः* ॥ १३० ॥
* गोवधं स्त्रीवधं स्तेयं पापं ब्रह्मवधादिकम् ।
गोविन्दकीर्त्तनादेव शतधा याति नारद* ॥ १३१ ॥

* सर्वतीर्थाभिगमनं सर्वाश्रमनिषेवणम् ।
न तथा पापविच्छित्त्यै हरेर्नामामृतं यथा* ॥ १३२ ॥

* जगन्नाथेति नाम्ना मां कीर्त्तयिष्यन्ति ये नराः ।
अपराधशतं तेषां क्षमिष्ये नात्र संशयः* ॥ १३३ ॥

* एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम् ।
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम्* ॥ १३४ ॥

* दुष्टसर्पेण दष्टानां गाढं दुरितरूपिणाम् ।
औषधं परमं पुंसामाहुः केशवकार्त्तनम्* ॥ १३५ ॥

* नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः ।
तावत्कर्त्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जन* ॥ १३६ ॥

* नारायणेति मन्त्रोऽस्ति वागस्ति वशवर्तिनी ।
तथापि नरके घोरे पतन्तीत्येतदद्भुतम्* ॥ १३७ ॥

* सर्वजन्मसु यत्पापं ज्ञानाज्ञानकृतं भवेत् ।
सर्वं दहति रामस्य कीर्त्तनान्न विचारयेत्* ॥ १३८ ॥

* रामेति कीर्त्तनं राजन् सर्वरोगनिवारणम् ।
प्रायश्चित्तं हि पापानां मुक्तिदं सर्वदेहिनाम्* ॥ १३९ ॥

* प्रयाणे चाप्रयाणे च यन्नाम स्मरतां नृणाम् ।
सद्यो नश्यन्ति पापौघा नमस्तस्मै चिदात्मने* ॥ १४० ॥

* ये कुर्वन्ति सदा भक्त्या गुणानुस्मरणं हरेः ।
प्रक्षीणकलुषौघास्ते प्रविशन्ति हरेः पदम्* ॥ १४१ ॥

इति नामादिरूपायां भक्तौ पापापहारिता ।
उदङ्किता पुराणादौ शतशश्च सहस्रशः ॥ १४२ ॥

कृष्णेति मंगलं नाम इत्यादिवचनों में नामग्रहणाद्यात्मक भक्ति में पापापहारिता स्पष्टतः कही गयी है। ऐसे सैंकडों हजारों वचनों में भक्ति पापनाशिनी घोषित की है।

प्रात्यक्षिकप्रमाणानि बलवन्त्यानुमानिकात् ।
विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानकम् ॥ १४३ ॥

पूर्वोक्तवचनों में कण्ठतः भक्ति की पापनाशकता बतायी है। मुचुकुन्द दृष्टन्त में 'भक्ति पापनाशिका नहीं' ऐसा प्रत्यक्षवचन नहीं है। किन्तु अनुमान मात्र है। अनुमान से प्रत्यक्षवचन प्रबल माना जाता है। महर्षि जैमिनि ने बताया है—"विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्" अर्थात् प्रत्यक्षवचनसे विरोध होने पर अनुमानअनपेक्ष अर्थात् अप्रमाण होता है। प्रत्यक्षवचन विरोध न हो तभी अनुमान प्रमाण होता है। अत एव श्रुतिविरोध होने पर स्मृति अप्रमाण होती है। क्यों कि स्मृति से श्रुत्यनुमान होता है। श्रुति तो स्वयं प्रत्यक्ष है ॥२४३॥

नन्वर्थवादरूपाः स्युः प्रागुक्ताः सकलोक्तयः ।
न ह्यन्धोऽघानि नामोक्त्या तीर्त्वा प्राप्नोति चक्षुषी ॥
न च नामापराधादिरर्थवादमतौ भवेत् ।
भवेत्तेन तु किं नाम तत्त्वार्थ परिचिन्तने ॥ १४५ ॥
नार्थवादधिया नाम्नि श्रद्धां जह्यादितीर्यते ।
तत्र हानाद्युदासीने का क्षति स्तत्त्वचिन्तने ॥ १४६ ॥

मृषाऽघान्यघनाशोऽपि मा भून्नाम्ना ततस्तु किम् ।
तेन सत्यस्य कृष्णस्य प्राप्तिं श्रद्दध्महे वयम् ॥ १४७ ॥
तपसा पापनाशं च स्वव्यपाश्रयणात पुनः ।
क्रमान्निजपदाप्तिं च मुचुकुन्दं जगौ हरिः ॥ १४८ ॥

पूर्वपक्षः—नाम जपादि से सर्वपापहानि होती हैं इत्यादि वचन अर्थवादमात्र है । क्या कृष्ण कृष्ण इतना बोलने से अंधे को अंधत्वका कारण पाप नष्ट हो कर आँख मिल जाएगी ? यदि कहो कि अर्थवादमति करने से नामापराधादि पाप होगा । हो भले, उसका तत्त्वचिन्तन से क्या सम्बन्ध ? अर्थवादमति करके श्रद्धा न छोडो यही शास्त्रतात्पर्य है । नाम से पापनाश न भी हो तो भी श्रद्धा में कोई कसर नहीं आता । पाप और पापनाश दोनों ही मिथ्या है । मिथ्या पापनाश हुआ भी तो नाम में कौनसा महत्त्व आता है ? हम तो मानते हैं कि नामादिभक्ति से सत्य परमात्मा की प्राप्ति होती है । इस से बढकर क्या श्रद्धा होगी ? तप से पापनाश होगा और मेरी भक्ति से क्रमेण मेरे पद की प्राप्ति होगी यही बात भगवानने मुचुकुन्दको कहा ।

न चार्थवादतः कल्प्यो विधिरित्यपि सांप्रतम् ।
तदा ह्यापतितं प्रोक्तं वचस्तेऽप्यानुमानिकम् ॥ १४९ ॥
हेतोश्च मुचुकुन्दादावनैकान्तिकता स्फुटा ।
न वा तदानुमानस्य प्रवृत्तिर्घटतेतराम् ॥ १५० ॥

यदि कहो कि अर्थवाद से विधिकल्पना होती है तब तुम्हारे मत में भी वचन आनुमानिक हो गया हेतु मुचुकुन्दादि में अनैकान्तिक होने से बल्कि अनुमान ही नहीं हो सकेगा ।

प्रत्यक्षेण विरोधोऽपि दर्शितोऽन्धनिदर्शनात् ।
सर्वेऽर्थवादा भज्येरन्नन्यथा भवतां मते ॥ १५१ ॥

हेतु अनैकान्तिक ही नहीं विरुद्ध भी है। अंधा नामोच्चारण मात्र से आंखवाला नहीं बनता यह प्रत्यक्षविरोध है। विरोध होने पर भी अर्थवाद से विधिकल्पना करेंगे तो अर्थवादसिद्धान्त ही समाप्त हो जाएगा॥१५१॥

मैवं स्पष्टो विधिर्ह्यस्ति* मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः* ॥१५२॥
सर्वपापविमोक्षार्थी भगवच्छरणं व्रजेत् ।
स्वर्गकामो यजेतेति यद्वत्तद्वदिहेष्यते ॥ १५३ ॥

सिद्धान्त:—गीता में मामेकंशरणंव्रज यह स्पष्टविधि है। सर्वपापविमोक्षार्थी भगवच्छरण में जाए यह उस का अर्थ है। जैसे स्वर्गार्थी याग करें यहां विधि है वैसे यहां भी विधि ही है।

* अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषोत्तमम्* ॥ १५४ ॥
अत्र स्फुटतरं चाह भक्तेः सर्वार्थहेतुताम् ।
पापनाशादिषु पुनः का नु ते परिदेवना ॥ १५५ ॥

अकाम हो, सर्वकाम हो या मोक्षकाम, भक्तियोग से भगवान का भजन करें। यहां और भी उक्तार्थ स्पष्ट है। सर्वकामसिद्धि जहां है वहां पापनाशसिद्धि की क्या बात?।

नन्वध्यक्षविरुद्धोऽयं विध्याभासो भवेदिति ।
तदसत् प्रतिबन्धेन कार्यानुत्पत्तिदर्शनात् ॥ १५६ ॥

विधि हो तो क्या ? प्रत्यक्षविरुद्ध होने से यह विधि नहीं विधि का आभास है ऐसा कहना अयुक्त है। कारण प्रतिबन्धक से भी कार्यानुत्पत्ति होती है ॥१५६॥

अवघातो भवेद् यद्वद् यावत्तुषविमोचनम् ।
तथैवाऽऽपातकध्वंसं नामाद्यावर्त्तनं मतम् ॥ १५७ ॥

दूसरी बात, 'व्रीहीनवहन्ति' । इस वैदिक वाक्य में क्षणमात्र धान कूटना अर्थ नहीं है किन्तु जब तक तुस अलग न हो तब तक कूटते रहना अर्थ है । वैसे जबतक पापनाश नहीं होता तब तक नामकीर्तन स्मरणादि चालू ही रखना चाहिये ॥१५७॥

सकृन्नामजपादिस्तु बहुपापविनाशनम् ।
अनन्तविधपापानि नैव नश्यन्ति तावता ॥ १५८ ॥

एक बार नाम लेने से बहुत पाप नष्ट होते हैं । परंतु पाप अनन्तप्रकार के हैं । एक बार नाम लेने से सब का नाश नहीं हो सकता ।

अपराधशतं तेषां महापातककोटयः ।
इत्यादिसंख्यावचनं तत एवोपपद्यते ॥ १५९ ॥

कहीं अपराधशतनाश कहीं महापातककोटिनाश बताया। सर्व न कहकर संख्याविशेष कहने का यही अभिप्राय हो सकता है ॥१५९॥

* विनिवृत्तश्च हन्ताहमसाध्यातङ्कगौरवात् ।
पूर्वमब्दाष्टकं नामश्रवणावृत्तिवैभवात्* ॥ १६० ॥

मैंने पहले आठ साल तक लगातार नाम श्रवण का आवर्तन किया उसी का यह प्रभाव है कि मैं असाध्य रोग से मुक्त हुआ ।

श्रवणावर्त्तनं स्पष्टमिह पापप्रणाशने ।
उक्तमन्यत्र चाप्येष न्यायः समतिदिश्यताम् ॥ १६१ ॥

ऊपर के वचन में पापनाशार्थ श्रवण की आवृत्ति स्पष्ट है । स्मरणकीर्तनादि में इसी न्याय को समझना चाहिये । अर्थात् आवर्त्तन समझना चाहिये ।

न च प्रारब्धभिन्नानि नश्यन्तीत्यपि सांप्रतम् ।
यतः प्रारब्धनाशोऽपि तत्र तत्र प्रकीर्त्तितः ॥ १६२ ॥
* प्रयोजयामास तदा नाम गुह्यमिदं मम ।
आनुपूर्व्येण विधिना केशवेति पुनः पुनः* ॥ १६३ ॥
* स चक्षुष्मान् समभवद् गौतमश्चाभवत्ततः* ।
इत्यादौ पूर्वनिर्दिष्टव्याधिनाशादिगीर्ष्वपि ॥ १६४ ॥

नामजपादि से प्रारब्ध से अतिरिक्त पाप नष्ट होते हैं ऐसा भी संकुचित अर्थ नहीं है । क्यों कि गौतम के वृत्तान्त में केशव नाम के आवर्त्तन से चक्षु प्राप्ति की बात बतायी है । और आधिव्याधिनाश होता है ऐसा वचन पहले दिखाया भी है ॥ १६२-१६४

न च प्रारब्धनाशार्थमावर्त्तनमुपेयताम् ।
संचितादि सकृन्नाम्ना नश्यतीत्यपि युज्यते ॥ १६५ ॥
वृत्रस्य सुखदुःखादेरन्यथानुपपत्तितः ।
जन्मान्तराणि भक्तानां दृश्यन्ते बहुशस्तथा ॥ १६६ ॥

प्रारब्धनाश के लिये नामादि का आवर्त्तन माना जाए। किंतु संचितादि एक ही नाम से नष्ट हो जाएगा यह भी कथन ठीक नहीं । कारण चित्रकेतु भक्त था । अगर संचि-

तादि पूरा उसका नष्ट हो गया होता तो वृत्रजनम में उस को सुखदुःखादि क्यों हुआ ? अन्य अनेक भक्तोंका भी जन्मान्तर देखने में आता है। अतः समस्त संचितादि-नाश सकृन्नाम से नहीं होगा ॥१६५-१६६

तपस्तु वायुवद्भक्तिपावकस्य प्रदीपने।
सहायकं भवेत्तेनाशुद्धिः प्रक्षीयते यतः ॥ १६७ ॥
विद्यया श्रद्धया चोपनिषदा यद्विधीयते।
तद्वीर्यवत्तरमिति न्यायोऽत्राप्यतिदिश्यताम् ॥ १६८ ॥
इत्थं च मुचुकुन्दाय तपः कर्तुं यदब्रवीत्।
तत् पापानपहारित्वे भवतेर्मानं न युज्यते ॥ १६९ ॥

भक्तिरूपी अग्नि को प्रदीप्त करने में वायु के समान तप का उपयोग है। "कायेन्द्रियशुद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः" इस प्रकार तप को अशुद्धि क्षयका कारण बताया है। 'यदेव विद्यया करोति०' इत्यादि श्रुति में कर्म वीर्यवान होने पर भी उपासनादि से वीर्यवत्तर होना बताया है। वैसे यहां भी नामादि वीर्यवान होने पर भी तप से वीर्य-वत्तर होता है ऐसा समझा जा सकता है। मुचुकुन्द को तप करने के लिये जो कहा उस का यही रहस्य है। अतः भक्ति पापहारी नहीं, प्रायश्चितरूप नहीं इत्यादि के समर्थन में उक्त दृष्टान्त असमर्थ ही है।

एतेनार्जुनभक्तिश्च व्याख्यातात्पतरस्विनी।
यदहंकारमाश्रित्येत्यहंकारस्य वर्णनात् ॥ १७० ॥

अर्जुन की भक्ति भी अल्पवेगवाली होने से उक्तरीत्या समाधान हो जाता है। स्वयं भगवान ने यदहंकारमाश्रि-त्य कह का अर्जुन का अहंकारवर्णन किया है ॥१७०॥

उपास्तौ क्वचिदास्तां वा प्रायश्चित्तं तु पूर्वतः ।
संप्रदायानुरोधेन शुद्धाभक्तेस्तु नास्ति तत् ॥ १७१ ॥

यद्यपि दीक्षाग्रहण से पूर्व पञ्चगव्यप्राशनादि प्रायश्चित्त का विधान है । और भगवदुपासना तो भक्ति ही मानी गयी है, न कि जैमिनीयोपासना के समान केवल प्रत्ययावृत्ति ही । तथापि संप्रदायप्राप्त उपासना तो मिश्रा भक्ति है शुद्धभक्ति नहीं । शुद्ध भक्ति में प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं है । अत एव शुद्धभक्ति को मुख्यरूप से प्रतिपादन करनेवाले नारदीयभक्तिसूत्रों में अथशब्दका प्रायश्चित्तानन्तर अर्थ नहीं हो सकता ॥१७१॥

(अथ शब्दका पाञ्चरात्रादिनिर्माणानन्तर अर्थ नहीं)

स्मृतिं च पाञ्चरात्रं च कर्मोपास्तिनिरूपणम् ।
कृत्वाथानन्तरं भक्तिं व्याख्यास्याम इतीतरे ॥ १७२ ॥
तदसत् कर्मणः पूर्वमुपास्तेश्चानपेक्षणात् ।
पूर्वं तद्ग्रन्थनिर्माणमात्रं नात्र प्रयोजकम् ॥ १७३ ॥

कुछ लोग व्याख्या करते हैं कि नारदस्मृति और पञ्चरात्र ये दो ग्रन्थ क्रमशः कर्म और उपासना के निर्माण कर अब भक्ति की व्याख्या करते हैं । परंतु ऐसा सूत्रार्थ समीचीन नहीं है । कारण भक्ति में कर्म और उपासना की अपेक्षा होती तब उन के निरूपण की संगति-बैठती और तदनन्तरत्व कथन भी सार्थक होता । उन ग्रन्थों का पहले निर्माण किया इस में कोई प्रमाण भी नहीं है और किया भी हो तो भी प्रकृतानुपयोगी है ।

ननु स्मृत्यादि कृत्वापि समतुष्याम नो वयम् ।
अतोऽथानन्तरं भक्तिं व्याख्वास्यामोऽधुनेतिचेत् ॥१७४॥

नैवमत्र प्रमाणं न कुत्राप्युपलभामहे ।
न व्यासवन्नारदस्याऽसंतुष्टिर्वर्णितेक्ष्यते ॥ १७५ ॥

सूत्रार्थ ऐसा किया जाए कि स्मृति आदि बनाने पर संतोष न होने से अब भक्तिशास्त्र निर्माण कर रहा हूं। (इस से भक्ति की उत्कृष्टता सिद्ध हो सकती है) इसपर वक्तव्य यही कि एक तो स्मृति आदि बनाने के बाद भक्तिसूत्र बनाया इस में कोई प्रमाण देखने में नहीं आता। दूसरा जैसे व्यासजी को महाभारतादि बनाने पर भी संतोष नहीं हुआ इस में भागवत प्रमाण है वैसे नारदजी के असंतोष में कोई वचन देखने में नहीं आता। ॥१७५॥

न च शोचामि भगवः सोऽहमित्यब्रवीन्मुनिः ।
ऋग्वेदादिमधीत्यापि कुमारमिति सांप्रतम् ॥ १७६ ॥
वेदाद्यधीतिमात्रेण न शोकापनयो भवेत् ।
इत्याह तत्र न पुनर्भक्तिशास्त्रविनिर्मितिम् ॥ १७७ ॥

छान्दोग्योपनिषद् में सनत्कुमार के प्रति नारदजीने जो कहा कि ऋग्वेदादि पढ कर भी मैं शोकमग्न हूं इस वचन को भी असंतोष में प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्यों कि वहां न तो स्मृतिनिर्माणादि से असंतोषकी चर्चा है और न भक्तिशास्त्रनिर्माण की ही कथा है। वहां का प्रकरणार्थ यही है कि आत्मज्ञान शोकविनाश का कारण है ऋग्वेदादिका अध्ययनमात्र नहीं। अतः यह प्रमाणदेना कुत्र कि लग्नं वाली बात है। ॥१७६-१७७

यदि वा भवतां तात्रदेवमर्थाग्रहो भवेत् ।
अतःशब्देनैव सोऽर्थो लभ्यो हीङ्गिष्यते मया ॥ १७८ ॥

और यदि आप का यह आग्रह है कि पांचरात्रादि से नारदजी को संतोष नहीं हुआ तो भी यह अर्थ 'अतः' शब्द से ही प्राप्त हो सकता है। यह अतः शब्द की व्याख्या में हम सूचित करेंगे ॥१७८॥

अर्थप्राप्तार्थकथनेऽनुवादत्वं प्रसज्यते।
प्रस्तावार्थौ वरं तस्मात् सार्थक्यात् तत्प्रसिद्धितः ॥१७९॥

पाञ्चरात्रादि निर्माण से संतोष नहीं हुआ अतः भक्तिसुत्र बना रहे हैं इतना कहने पर अर्थात् पाञ्चरात्रादिनिर्माणानन्तर अर्थ निकलेगा। उसीका कथन अथशब्द से हो तो अनुवाद मात्र होगा। इस से अच्छा प्रस्ताव अर्थ मानना है। कारण एक तो अथ शब्दकी सार्थकता हो जाती है, दूसरा प्रस्तावार्थ प्रसिद्ध भी है ॥१७९॥

पातञ्जलं योगसूत्रमथयोगानुशासनम्।
व्याचक्षाणोऽब्रवीद् व्यासो ह्यधिकारार्थतां मुनिः ॥१८०॥
शब्दानुशासनमुखैरतुष्टस्तदनन्तरम्।
योगानुशासनं वक्ष्यामीति न व्याख्यदीश्वरः ॥१८१॥

अथ योगानुशासनं इस योगसूत्रकी व्याख्या में भगवान् व्यास ने भी शब्दानुशासनादिसे असंतुष्ट हो कर योगानुशासन कहता हूं ऐसो व्याख्या नहीं की। किन्तु अधिकारार्थ (प्रस्तावार्थ) ही बताया ॥१८०-१८१॥

नन्वस्तु पाञ्चरात्रोक्तेरानन्तर्यमथोदितम्।
तां विना भक्तिरेव स्यादुत्पातायेति वक्ष्यते ॥ १८२ ॥
मैवं सर्वार्थसंक्षेपः कृतो देवर्षिणात्र हि।
बहुसाधनवैपुल्यं भक्तौ नैवास्त्यपेक्षितम् ॥ १८३ ॥

अच्छा, फिर भी अथ शब्द का पाञ्चरात्रोक्ति के अनन्तर अर्थ संभव है। क्यों कि आगे कहेंगे कि पांचरात्राद्युक्त नियमादि के विना भक्ति उत्पातकारण होगी। इस का उत्तर यह कि आवश्यक सर्वार्थका संक्षेप यहीं सूत्रों में है। भक्ति में इस से अतिरिक्त बहुत अधिक साधनों के झमले की जरूरत नहीं है ॥११८२-१८३॥

न चात्र मन्त्रयन्त्रादिर्मा संक्षेपीति सांप्रतम्।
विनापि तं गोपिकादेर्भक्तेः पूर्वं प्रदर्शनात् ॥ १८४ ॥

यह कहें कि यहाँ पाञ्चरात्रोक्त मन्त्रयन्त्रादि का संक्षेप कहां है? उत्तर यही कि उनकी जरूरत ही क्या? क्या उनके विना गोपियों को भक्ति नहीं हुई?

* श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्त्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः* ॥१८५॥
इत्यत्रोल्लङ्घनं नाम ज्ञात्वा तदवहेलनम्।
तच्चहंकारमूलत्वाद् भक्तानां नोचितं खलु ॥ १८६ ॥

शंका होगी कि मेरी आज्ञारूपी श्रुति स्मृति का उल्लंघन करनेवाला मेरा द्वेषी है मेरा भक्त होने पर भी वैष्णव नहीं है इस भगवदुक्ति से श्रुत्यादि का उल्लंघन न हो एतदर्थं भक्ति से पूर्व श्रुत्याद्यध्ययन होना चाहिए। परंतु यह बात सही नहीं है। उल्लंघन का अर्थ है जानकर फिर अवहेलन करना। यह तो अहंकार मूलक होने से भक्तों के लिये अनुचित तो है ही ॥१८५-१८६॥

* न जपो नार्चनं नैव ध्यानं नापि विधिक्रमः।
केवलं सन्ततं कृष्णचरणाम्भोजसेविनाम्* ॥ १८७ ॥

इत्येवं गौतमीयं यज्जपाद्यनवलम्बनम् ।
अनहंकारपूर्वत्वादिति तद्युज्यतेतराम् ॥ १८८ ॥

उन के लिये जप अर्चन, ध्यानादि कुछ नहीं और न कोई विधिक्रम ही है जो केवल भगवत्चरण सेवी होते हैं इस गौतमवचन की भी उपपत्ति है क्यों कि अहंकार के न होने पर शास्त्रविधि का अभाव दोषकारी नहीं है।

* स्वातन्त्र्यात् क्रियते कर्म न च वेदोदितं महत् ।
विनैव भगवत्प्रीत्या ते वै पापण्डिनः स्मृताः* ॥ १८९ ॥
अत्रापि भगवत्प्रीतिपूर्वकत्वे तु कर्मणः ।
अपाषण्डित्वमेवेति सूचितं तद्विशेषणात् ॥ १९० ॥

वेदोक्त नहीं, भगवत्प्रीत्यर्थ भी नहीं किंतु स्वतन्त्रता से कर्म जो करते हैं वे पाखण्डी हैं इस वचन में भी कर्म यदि भगवत्प्रीत्यर्थ हो तो कर्त्ता पाखंडी नहीं यह सूचित होता है। अन्यथा अवेदोक्तकर्मकर्ता स्वतः पाखंडी होने से "विनापि भगवत्प्रीत्या" यह विशेषण व्यर्थ होता।

* तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्* ।
इत्यत्र चानियतसाधनत्वमुदीरितम् ॥ १९१ ॥

इस लिये किसी भी उपाय से मन को कृष्ण में लगाना चाहिये इस उक्ति में अनियत साधन कहा गया है।

तस्माच्छ्रुत्यादिगदितविधिबोधादृतेऽपि च ।
अत्र संक्षिप्तबोधेन भक्तिर्युक्तेति सांप्रतम् ॥ ९१२ ॥

इस लिये श्रुति पांचरात्रदि में बताये विधिज्ञान बिना भी इस भक्तिसूत्रमें संक्षिप्त अर्थज्ञानमात्र से भक्ति संभव है यही उचित है ॥१९२॥

नन्वत्र भक्तिशास्त्राणि मननीयानि वक्ष्यति ।
अत्र चेत्सर्वसंक्षेपस्तदुक्तिर्व्यर्थतामियात् ॥ १९३ ॥
नैवं भागवतादीनि लीलाशास्त्राणि नित्यशः ।
मन्तव्यानीति तस्यार्थस्तत्संक्षेपोऽत्र नास्ति हि ॥१९४॥

शंका होगी कि आगे स्वयं नारदजी भक्तिशास्त्रोंका मनन करने के लिये कहेंगे । यदि यहीं पर सर्वसंक्षेप हो तो उक्त कथन व्यर्थ होगा। उत्तर यह कि भागवतादि लीलाशास्त्रोंका मनन वहां विवक्षित है । लीलासंक्षेप तो सूत्रों में नहीं है ॥१९३-१९४॥

बुद्ध्याधिक्ये त्वधीयन्तां पाञ्चरात्रादयोऽपि च ।
तत्रापि भगवन्नामप्रभृतिर्विद्यते यतः ॥ १९५ ॥

अधिकबुद्धि हो तो पांचरात्रादि का भी अध्ययन करो । वहां भी तो भगवन्नामादि का वर्णन है ।॥१९५॥

नैतावताऽत्र शास्त्रे तु तदानन्तर्यमाञ्जसम् ।
निश्चयादूर्ध्वमत्रापि शास्त्ररक्षां प्रवक्ष्यति ॥ १९६ ॥

परंतु इतने मात्र से भक्ति में तदनन्तरता सिद्ध नहीं होती । निश्चय के बाद शास्त्रविधिरक्षा भी अनास्था पूर्वक नारदजी कहेंगे । ॥१९६॥

(विवेकादिसाधनानन्तर अर्थ भी नहीं)

एतेन च विवेकादिर्भक्तेः पूर्वमपेक्ष्यते ।
* अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्* ॥ १९७ ॥
इत्यत्रानित्यताद्युक्तेर्विवेकाशयत्वतः ।
वैराग्यस्यापि हेतुत्वप्रोक्तेर्भागवतादिषु ॥ १९८ ॥

* जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु ।

वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥१९९॥

ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः ।

जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्* ॥२००॥

इत्यादेरिति तच्चापि परास्तं युक्त्यसंगतेः ।

तत्र तत्तदवस्थासु कार्यमात्रोपदेशतः ॥ २०१ ॥

इस विवेचन से कुछ लोगोंका यह कथन परास्त हो गया कि भक्ति के लिये पूर्व विवेक वैराग्यादि अपेक्षित है । भगवानने कहा है–अनित्य और असुख इस लोक को प्राप्त कर हे अर्जुन मेरा भजन कर। अव्यावर्त्तक दोनों ही विशेषण विवेक बताने में ही उपयुक्त हैं । श्रीमद्भागवत में भी वैराग्य की आवश्यकता बतायी है। 'मेरी कथा में श्रद्धावाला, सर्वकर्मों से विरक्त, विषयों को दुःखरूप देखते हुए भी त्यागने में असमर्थ हो तो श्रद्धालु और दृढ निश्चयी होकर मेरा भजन करें यहां स्पष्टतः वैराग्यानन्तर भजन करने को बताया है इत्यादि । इस लिये इन वचनों से विवेकादि पूर्वकत्व भक्ति में सिद्ध नहीं होता कि एक तो युक्तिसंगत नहीं, और दूसरा उन उन अवस्थाओं में क्या करें उसी का उत्तर ये उपदेश हैं ।

(वैराग्य अत्यासक्ति उभयाभावानन्तर अर्थ नहीं)

ननु मास्तु विरागादिर्भक्तौ पूर्वमपेक्षितः ।

तथाप्यनतिसक्तिश्चानिर्वेदश्च भवेत्तथा ॥ २०२ ॥

* यदृच्छया मत्कथासु जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।

न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः*॥२०३॥

इत्येवं भगवानेतदाचष्ट स्पष्टमुद्धवम् ।
श्रद्धापि कारणतया तत एवावगम्यते ॥ २०४ ॥
अत्राहुः परिसंख्येयं विहिता ज्ञानकर्मणोः ।
सिद्धिदा भक्तिरेवास्य न पुनर्ज्ञानकर्मणी ॥ २०५ ॥

विवेक वैराग्यादि नियतरूप से पूर्वापेक्षित न हो, तथापि जो विरक्त नहीं और अतिरक्त भी नहीं उस के लिये भक्तियोग सिद्धिदायी है इस भागवतवचन से उक्त दो विशेषण भक्ति में आवश्यक हैं। इस पूर्वपक्षका समाधान यह कि भगवानने ज्ञान और कर्म की परिसंख्या (व्यावृत्ति) मात्र वहाँ की है। वैराग्यवान को ज्ञान और रागी को कर्म फलप्रद है। ये दोनों न हो तो भक्ति ही फलदा है ज्ञान और कर्म नहीं। ॥२०२-२०५॥

* अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः* ।
इत्येवमविशेषेण सर्वेषां भक्तिवर्णनात् ॥ २०६ ॥

अकाम हो सर्वकाम हो मोक्षकाम हो सब को भक्ति परमसाधन है। ॥२०६॥

यत्तु कश्चिदसूयालुर्मुमुक्षोर्नाधिकारिता ।
भक्तावित्याह तच्चोक्तवचनेन पराकृतम् ॥ २०७ ॥

किसी असूयालु ने कहा कि मुमुक्षु भक्ति का अधिकारी नहीं है। परंतु उस ने 'मोक्षकामः' यह पद नहीं देखा। ॥२०७।

(रसबोधानन्तर अर्थ नहीं)

पिबतेदं भागवतं रसिका भुवि भावुकाः ।
नन्वत्र रसिकत्वादिरधिकारिविशेषणम् ॥ २०८ ॥

भवेद् भागवते नैतद् भक्तौ तु रससंविदि ।
निजपोषणहेतोश्च स्वानन्तर्यं सुसंगतम् ॥ २०९ ॥

"पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः" यहाँ रसिक इत्यादिविशेषण अधिकारीविशेषणार्थ है । यह बात यथार्थ है । परंतु भागवत के अधिकारि का वह विशेषण है भक्तिके नहीं । भागवत भक्तिका पोषक है । अतः भक्तिभाघानन्तर्यं उस में संगत है ।

(अथ शब्दार्थ का उपसंहार)

पूर्ववृत्तं नियमतो यदेव समपेक्ष्यते ।
तद्धि वाच्यमिति ब्रह्मसूत्रभाष्यादिषु स्थितम् ॥ २१० ॥
अन्यादृशानन्तरत्वमदार्शनिकसम्मतम् ।
तस्मात्प्रस्ताव एवात्र सूत्रेऽथपदशब्दितः ॥ २११ ॥

जो नियमतः पूर्व में अपेक्षित है उसी को बताना चाहिये ऐसा ब्रह्मसूत्रभाष्यादि में बताया है । नियतानपेक्षित का अनन्तरत्व दार्शनिक सम्मन नहीं है अतः प्रस्ताव ही अथ शब्द का अर्थ है ।

अथशब्दार्थकथनव्याजेन महिमा मया ।
लेशेन दर्शितो भक्तेः संशयच्छेदहेतवे ॥ २१२ ॥

सूत्रस्थ 'अथ' शब्द के अर्थकथन के बहाने मैं ने भक्ति की महिमा संक्षेप से दिखायी । इस लिये कि किसी प्रकार का संशय न रह जाए ॥२१२॥

(सूत्रगत 'अतः' शब्द का अर्थ)

अतः शब्दः संनिकृष्टहेत्वर्थवचनो हि सन् ।
प्रत्यक्षं च प्रसिद्धं च कारणं दर्शयत्ययम् ॥ २१३ ॥

सूत्र में दूसरा शब्द अतः है इदं + तस् इस संधि में इदं का संनिकृष्ट और तस् का हेतु अर्थ है। प्रत्यक्ष वा प्रसिद्ध हेतु उस का अर्थ हुआ ॥२१३॥

संसृतिर्दुखरूपेयं प्रत्यक्षमवलोक्यते।
कर्मादीनामनित्यत्वं व्यक्तं शास्त्रेषु वीक्ष्यते ॥ २१४ ॥

प्रत्यक्ष है संसार की दुःख रूपता। प्रसिद्ध है शास्त्रों में कर्मादि की अनित्यता। ॥२१४॥

तद्यथा क्षीयते लोक इह कर्मचितः क्रमात्।
एवमेवामुत्र लोकः क्षीयते पुण्यसंचितः ॥ २१५ ॥

श्रुति में लिखा है कि जिस प्रकार परिश्रम प्राप्त धनादि क्रमशः समाप्त होता है वैसे पुण्यसंपादित परलोक भी क्षीण होता है ॥२१५॥

* कर्मणां फलरूपत्वादाविरिञ्चादमङ्गलम्।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्* ॥ २१६ ॥

श्रीमद्भागवतः—कर्मफल होने से सत्यलोकपर्यन्त सभी अमंगल है दृष्ट के फल के समान अदृष्टफल को भी नश्वर ही समझना चाहिये। ॥२१७॥

* कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च।
पश्येत् पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम्* ॥२१८॥

गृहस्थाश्रमी दुःखनाश और सुख के लिये कर्म का आरंभ करते हैं। परंतु फल विपरीत होता है। ॥२१८॥

* नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना।
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः* ॥२१९॥

धर्म के बाद अर्थ लो। प्रथम वह दुर्लभ है। फिर दुःखदायी। यहां तक कि कभी उस से झगडा और मृत्युतक होता है। अर्थ के बाद काम है। गृह (गृहिणी गृहमुच्यते के अनुसार दार भी) पुत्र, बन्धु पशु आदि भोगसामग्री ही तो काम है। ये सब क्षणभंगुर हैं। मिल भी गये तो कौन सी प्रीति होनेवाली है। ॥२१९॥

* एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम्।
सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्त्तिनाम्* ॥ २२० ॥

गृहादि प्रायः अर्थनिर्मित काम है। परलोक धर्मनिर्मित काम है। उस की भी वही दशा है। वह नश्वर होता है। अपने समान भी अपने से अधिक भी सुखी परलोक में होते हैं तो वहाँ ईर्ष्या आदि चलती है। नाशवान् होने से परलोक दुःखदायी भी है। जैसे छोटे छोटे राजाओंकी स्थिति होती है वही वहाँ भी है। ॥२२०॥

* आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन*।
इत्यादिशास्त्रवचनेषूक्तार्थः प्रकटीकृतः ॥ २२१ ॥

हे अर्जुन ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी पुनरावृत्तिवाले हैं। इत्यादि शास्त्रवचनों में संसार की अनित्यता प्रकट किया है।

(भक्ति पुरुषार्थ और अनन्यसाधन)

तथा भक्तेः पुमर्थत्वं पुनरावृत्तिवर्जितम्।
अनन्यसाधनत्वं च तत्र तत्र प्रदर्शितम् ॥ २२२ ॥

वैसे ही पुनरावृत्तिरहित परमपुरुषार्थता एवं अनन्यसाधनता शास्त्रों में भक्ति की बतायी है। ॥२२२॥

* अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः* ॥ २२३ ॥
* मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः* ॥२२४॥

अनन्यचित्त हो कर जो मेरा स्मरण सतत करता है उस के लिये मैं सुलभ हूं मुझे प्राप्तकर महात्मालोग अशाश्वत दुःखालय संसारमें फिर नहीं आते । ॥२२४-२२५॥

* नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ २२५ ॥
भक्त्या त्वनन्यया लभ्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप* ॥ २२६ ॥
* न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता* ॥२२७॥
* यज्ञदानतपोभिर्वा वेदाध्ययनकर्मभिः ।
नैवं द्रष्टुमहं शक्तो मद्भक्तिविमुखैः सदा* ॥ २२८ ॥

वेद, तप, दान, याग, सांख्य, त्यागादि से भगवद्दर्शन प्राप्ति आदि नहीं होती केवल परमभक्ति से ही भगवत्प्राप्ति होती है । ॥२२५-२२८॥

भगवत्प्राप्तिरूपो यः पुरुषार्थोऽपुनर्भवः ।
तस्य भक्त्यैकसाध्यत्वमेतेषु विनिरूपितम् ॥ २२९ ॥

"अनन्यचेताः" से लेकर "मद्भक्तिवियुखैःसदा" तक के श्लोकों में भगवत्प्राप्ति परमपुरुषार्थ है नित्य है भक्तिमात्रसाध्य है यह बताया है । ॥२२९॥

* धिग् जन्म नस्त्रिवृद्विद्यां धिग् व्रतं धिग्बहुज्ञताम् ।
धिक्कुलं धिक्क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे* ॥२३०॥

हम भगवद्विमुख हो गये । धिक्कार है हमारे जन्म को विद्या को व्रतको पाण्डित्य को कुल को और कर्मकुशलता को (यज्ञपत्नीप्रसङ्गमें)

* मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह ।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥ २३१ ॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानभ्रष्टाः पतन्त्यधः* ॥ २३२ ॥

परमेश्वर के मुखादि से उत्पन्न वर्णाश्रमधर्मी मानवों में जो अपने ही परम पिता परमेश्वरका भजन नहीं करते, अवज्ञा करते हैं वे स्थानभ्रष्ट हो पतित होते हैं। ॥२३१

* हित्वात्यायासरचिता गृहापत्यपशुश्रियः ।
तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः* ॥ २३३ ॥

अतिश्रम से संपादित दार, पुत्र-पशु-धनादि को अनिच्छा से भी छोडकर वे अंधकार में पड जाते हैं जो भगवद्विमुख हैं । ॥२३३॥

भक्तिहीनान् विनिन्दद्भिरेवंविधवचःशतैः ।
पुरुषार्थनिदानत्वं भक्तेरेवेति निश्चितम् ॥ २३४ ॥

भक्तिहीनों की निंदा करनेवाले ऐसे सैंकडों वचन हैं । उनका तात्पर्य निन्दा में नहीं किन्तु भक्तिको परमपुरुषार्थ साधन निश्चित कराना है । ॥२३५॥

* कृतानुयात्राविद्याभिर्हरिभक्तिरनुत्तमा ।
अविद्यां निर्दहत्याशु दावज्वालेव पन्नगीम्* ॥ २३५ ॥

कर्म उपासना और ब्रह्मज्ञान से हरिभक्ति परमोत्तम है। अविद्या को उस प्रकार जला देती है जैसे दावाग्नि सांपिनी को ॥ २३६ ॥

पूर्वपापहरा सर्वदोषघ्नी सर्वकामदा ।
आधिव्याधिनिहन्त्री च सेति प्रागेव वर्णितम् ॥ २३६ ॥

पूर्व पापों को वर्तमान आधिव्याधियों को और सर्व दोषों को वह नष्ट करती है वह सर्वकामना पूर्ण करती है इत्यादि महिमा पहले हम कह चुके हैं ॥ २३७ ॥

अतो हेतोरियं भक्तिर्व्याख्येया प्रेमलक्षणा ।
अपुनर्भवपर्यन्ता भगवत्प्राप्तिकारिणी ॥ २३७ ॥

इन पूर्वोक्त कारणों से (यह सूत्रस्थ अतः का अर्थ है) यह (प्रत्यक्षता और प्रसिद्धता इयं से बतायी जा रही है) प्रेमलक्षणा भक्ति (उपासनादिका अन्यत्र निरूपण है अतः प्रेमलक्षण विशेषण है) व्याख्यान योग्य है। क्यों कि वह मोक्षपर्यन्त सर्वार्थ दायिनी है, यदि इच्छा हो। और इच्छा न हो तो भगवत्प्राप्ति साधन वह है ही ॥ २३८ ॥

("अतः" शब्दकी दूसरे ढंगसे व्याख्या)

भक्तिरेव नयत्येनद् भक्तिर्गमयतीश्वरम् ।
भक्तिरेनं गमयति परो भक्तिवशः पुमान् ॥ २३८ ॥
भूयसी भक्तिरेवेति शतशः श्रुतिषु श्रुतम् ।
स्वयंफलस्वरूपा च स्वयमग्रे प्रवक्ष्यते ॥ २३९ ॥
अतश्च साधनैः सार्धं व्याख्येया भक्तिरैश्वरी ।
जगदुद्धारहेतुत्वात् प्रियत्वाच्च सदा हरेः ॥ २४० ॥

मनुष्य को भक्ति ही परमतत्त्व तक ले जाती है, भगवान को प्राप्त कराती है परमगति साधित करती है, सब से बढकर भक्ति ही है इस प्रकार बहुधा श्रुतियोंमें बताया है। भक्ति स्वयं फलरूप है ऐसा नारदजी भी स्वयं आगे कहेंगे। इस लिये जगदुद्धार कारण और हरिप्रिय होने से भी साधन सहित भगवद्भक्ति व्याख्या योग्य है ॥ २३७–२४० ॥

('व्याख्यास्यामः' की शंकासमाधानसहित व्याख्या)

उद्भाव्या ननु भक्तिर्हि न व्याख्यां समपेक्षते ।
सत्सङ्गादिवशादेव सा स्वयं संप्रजायते ॥ २४१ ॥

पूर्वपक्षः—भक्ति की व्याख्याकी क्या आवश्यकता? ज्ञान की बात होती तो व्याख्या की जरूरत पडती। भक्ति तो उद्भाव्य है। उसके लिये सत्संगादि की जरूरत है, न कि व्याख्या की ॥ २४१ ॥

* शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः ।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम् ॥२४२॥
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेयया ।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी* ॥ २४३ ॥

भगवानका श्रवण और कीर्त्तन परम पुण्य है। अपनी कथा सुननेवालों के हृदयमें वे संतसखा भगवान् प्रविष्ट हो अमंगलरूप पापों को नष्ट करते हैं। संतसमागम भगवत्कथादिरूप भागवतसेवा से अभद्र पाप नष्टप्राय होते हैं तो भगवानमें नैष्ठिकी भक्ति होती है ॥ २४२–२४५ ॥

न चोत्पन्नामभिज्ञातुं तस्या व्याख्येति सांप्रतम् ।
उदितायां वृथाभिज्ञा भास्करस्येव दीपकः ॥ २४४ ॥
अनुत्पन्ना कथं वाच्याऽनिर्वाच्या शब्दतः खलु ।
निर्ज्ञाताऽप्यपुमर्था साऽनुद्भूता चेदिति स्थितिः ॥२४५॥

भक्ति उत्पन्न होने पर उसे पहचानने के लिये व्याख्या है यह कहना संभव नहीं है। क्यों कि उत्पन्न होने पर फिर पहचान की क्या ज़रूरत। सूर्य उदय हो गया तो अब उसे पहचानने के लिये कौन दीपक लाता है?। भक्ति उत्पन्न न हुई हो तो अनिर्वचनीय उस भक्ति को शब्दों से कहेंगे कैसे?। मान भी लिया जाए कि शब्द से उसका ज्ञान हुआ, तो भी वह जबतक उत्पन्न नहीं होती तबतक पुरुषार्थरूप नहीं हो सकती ॥२४४-२४५॥

सत्यं, स्वरूपतो ज्ञाता ब्रह्मवन्न पुमर्थकृत् ।
तथाप्यस्याः स्वरूपं हि विज्ञेयं सहसाधनैः ॥ २४६ ॥
मा भूत् कृतार्थताबुद्धिः प्रेमाभासेऽविवेकतः ।
मा च भूत् साधनाभासैरुत्पातश्चाल्पधीजुषाम् ॥ २४७ ॥

उत्तरः—बात सत्य है ब्रह्म के समान ज्ञात मात्रसे भक्ति पुरुषार्थकारी नहीं है तथापि साधनों के सहित भक्तिका स्वरूप तो जानना ही चाहिये। इस लिये कि कहीं भक्त्याभास को ही लोग भक्ति समझकर अपने को कृतार्थ न मान लें और साधनाभासको ही साधन मान-कर उत्पात न कर बैठें ॥ २४६-२४७॥

* वेदशास्त्रपुराणादीन् पाञ्चरात्रविधिं विना ।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते* ॥ २४८ ॥

वेद, शास्त्र, पुराणादि एवं पांचरात्र विधि के विना ऐकान्तिक हरिभक्ति केवल उत्पातका कारण बन जाती है।

ऐकान्तिकी भक्तिरिति तदाभासो निगद्यते।
वेदादेरपि चेत्त्यागस्तत्र किं वाच्यमस्ति हि ॥ २४९ ॥

पूर्वश्लोकमें ऐकान्तिकी भक्तिका ऐकान्तिकभक्त्याभास अर्थ है। ऐकान्तिकभक्त्याभास मात्र से जब उत्पात संभव है फिर तिस पर वेद शास्त्रादि का परित्याग भी हो तो क्या कहना। आधुनिक कालमें ऐसे बहुतेरे भक्त नामधारी हैं जो परस्त्री गमनादिकर उसमें भी भगवान होने से उस प्रेम को भी भक्तिरूप मान लेते हैं। ऐसे भी संप्रदाय देखने में आते हैं जिसके आचार्यगद्दीस्थ के पुत्रोंको भक्तलोग गोपालरूप मानते हैं और उनकी अव्यावहारिक क्रियाओं को भी कृष्णलीला म,न लेते हैं। जब कि वैध दारपुत्र प्रेम भी व्यावहारिक मात्र है उसे भी भक्ति नहीं मानी जा सकती "स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं वृष्णिषु पाण्डुषु" इस कुन्तीवचनसे यह स्पष्ट है तो अन्य प्रेमादिकी बात ही क्या॥ २४९॥

परद्वेषादिरसिकाः स्वस्यां भक्तौ प्रमिण्वते।
विद्वांसोऽपीति तद्व्याख्या कथं नैव व्यपेक्षिता ॥२५०॥

अविवेकियों की तो बात छोडो, बडे बडे विद्वान् भी स्वग्रन्थोंमें दूसरोंको गाली अपशब्दादि प्रयोगकर परविद्वेष को प्रकट करके भी अपनी भक्तिमें प्रमाबुद्धि रखते हैं। प्रायः भक्ति के आधुनिक दर्शन ग्रन्थोंमें वेदान्तियों को गाली देना एक लक्ष्य सा बना हुआ है। अतः भक्तिस्वरूप की व्याख्या अपेक्षित ही क्या उसके विना भयंकर उत्पात

हो गये और हो रहे हैं। विशेष वक्तव्य हम वादो नावलम्ब्यः इस सूत्रकी व्याख्यामें करेंगे ॥ २५० ॥

परं पुमर्थं विज्ञाय प्रवर्त्तेरंस्तदर्थतः ।
व्याख्येया तेन लोकानां भक्तिः साधनमेव च ॥२५१॥

परम पुरुषार्थ के रूपमें भक्ति को जान लेते पर तदर्थ लोगोंकी प्रवृत्ति होगी अतः भक्तिका स्वरूप तथा साधन दोनोंकी व्याख्या करना उपयुक्त है ॥ २५१ ॥

विस्पष्टं च समन्ताच्च साधनैः सहितामिति ।
भक्ति प्रकथयिष्यामः सर्वमाङ्गल्यहेतवे ॥ २६२ ॥

ॐ

केवल स्वरूप ज्ञानार्थ ही नहीं, अपि तु सर्वमांगल्यार्थ भी। अर्थात् यह शास्त्र भक्तिसंपादक भी है। इसके अध्ययन से भी क्रमशः भक्तिका उदय होता है। अतः वि + आ + ख्यास्यामः - वि = विस्पष्ट, आ = समन्तात् - चारो ओरसे अर्थात् साधनों के साथ हम भक्तिका ख्या = प्रकथन - प्रकृष्टकथन करेंगे अर्थात् सर्व संक्षेप कर अल्प शब्दोंमें सुबोध तरीके से कहेंगे ॥ २५२ ॥

इति प्रतिज्ञासूत्रवार्त्तिकम्

प्रतिज्ञा सूत्र वार्त्तिक का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ॥

ॐ

भजनं नाम रसनमित्येतच्छ्रुतिषु श्रुतम् ।
रसास्वादनमेवात्र प्रत्ययेन प्रतीयते ॥ १ ॥

'भजनं नाम रसनम्' ऐसी श्रुति है। 'रसनं' में 'अन' प्रत्यय से रसास्वादन अर्थ निकलता है ॥ १ ॥

विभावादिविभेदेन तच्चानन्तविधं भवेत् ।
तदुपाधिवशादेव रसोऽपि स्यादनन्तधा ॥ २ ॥

विभाव अनुभावादि आगे बतायेंगे। उनके नाना भेदसे रसास्वादन अनन्त प्रकारका होता है और आस्वादनरूपी उपाधि अनन्त होने से रसमें भी औपाधिक अनन्तभेद आ जाते हैं। (जैसे ज्ञान एक होने पर भी वृत्तिभेद से अनन्त हो जाता है) ॥ २ ॥

संग्राहकैः पुनर्धर्मैः संगृह्य मुनिपुङ्गवाः ।
सुज्ञेयांश्चक्रिरे लोकजिज्ञापयिषवो रसान् ॥ ३ ॥

भरतादि महामुनियोंने संग्राहक धर्मों से उन अनन्तरसों को संगृहीतकर लोकभोग्य बना दिया ॥ ३ ॥

तत्राप्येकादशैवात्र निर्देक्ष्यन्ते महर्षिणा ।
भक्तेषु तावतामेव यत् स्थिरस्थायिभावता ॥ ४ ॥

उनमें भी ग्यारह रसोंका ही गुणमाहात्म्यासक्ति सूत्रमें महर्षि नारद निर्देश करेंगे। उसका कारण यह कि भक्तोंमें उतने ही रसोमें स्थिर स्थायिभावता है। (स्थायोभाव आगे समझायेंगे) ॥ ४ ॥

(श्रीधरस्वामिकथित दस रस)

रौद्रोऽद्भुतश्च शृङ्गारो हास्यं वीरो दया तथा ।
भयानकश्च बीभत्सः शान्तः सप्रेमभक्तिकः ॥ ५ ॥
मल्लानामशनिःश्लोके दर्शिते स्वामिभी रसाः ।
प्रदर्शिताः क्रमेणैव मल्लाद्याश्रयभेदतः ॥ ६ ॥

रौद्र, अद्भुत, शृङ्गार, हास्य, वीर, दया, भयानक, बीभत्स, शान्त तथा प्रेमभक्ति थे दस रस "मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः" इत्यादि भागवत श्लोककी टीकामें श्रीधरस्वामीने मल्लादि आश्रयभेद को लेकर क्रमशः दिखाये हैं ।

ननु प्रीतिविरोधित्वाद् रौद्रादिः स्यात् कथं रसः ।
नैवं सामाजिकेष्वस्मात् प्रीत्युत्पत्त्यवलोकनात् ॥ ७ ॥

जीवगोस्वामीने श्रीधरस्वामी पर इस विषयमें कुछ आक्षेपसा किया है । वे कहते हैं कि प्रीतिविरोधी होनेसे रौद्रादि रस नहीं हो सकते । परंतु जीवगोस्वामीकी यह भ्रान्ति है । कारण मल्लादिमें भगवान के प्रति प्रीति हो या न हो किन्तु इस कथा को सुननेवाले और नाटकों को देखनेवाले सामाजिकों को तो प्रीति होती ही है । अन्यथा भक्त भगवानकी मल्लयुद्धादिकथा ही न सुनते ॥ ७ ॥

रसोऽनुकार्ये प्राचीनमायके होति केचन ।
अलौकिको रसस्तावन्नट एवेति चेतरे ॥ ८ ॥
सामाजिकेष्वेव रस इत्येवमपरे जगुः ।
यथायोग्यं तु सर्वत्रेत्येवं मन्यामहे वयम् ॥ ९ ॥

जीवगोस्वामीकी भ्रान्तिका बीज यह है कि इस विषय में नाना मत है । एक मत यह है कि रस अनुकार्य कृष्ण-

राधा मल्ल कंसादिमें ही है। हम उसको देखकर केवल प्रसन्न होते हैं। दूसरा मत यह है कि प्राचीन अनुकार्य नायकों में तो लौकिक रसमात्र है। अलौकिक रस तो नटमें ही है। पुरानी मासूली कथा भी रंगमंच पर आने पर अलौकिक हो जाती है यह सर्वविदित है। तीसरा मत यह है कि रस सामाजिकों (दर्शकों) में ही होता है। अनपढ मूर्ख भी प्रसंगानुसार नट होता है। प्रसंगानुसार उसे देखकर भी सामाजिकों (दर्शकों) को रसानुभूति होती है। ये तीन मत हैं। परंतु हमारा (वार्त्तिक-कारका) मत यह है कि रस यथायोग्य सर्वत्र संभव है। इनमें प्रथममतानुसार जीवगोस्वामीको भ्रान्ति हो गयी॥

तथा च मा भूच्चैद्यादौ रौद्रादे रसरूपता।
सामाजिकानां तु पुनर्भवत्येव रसात्मता॥ १०॥

फलत: शिशुपाल मल्लादिमें रौद्रादि की रसरूपता भले न हो, सामाजिक उसे सुनकर या रंग में देखकर रसानुभव करते ही हैं॥ १०॥

एका भ्रुकुटिमाबध्ये त्यादौ क्रोधादिलक्षणः।
भावः पुष्टो हि रौद्रादिरसो भक्तेष्वपीक्ष्यते॥ ११॥

'एका भ्रुकुटिमाबध्य' इत्यादि रास प्रकरणमें एवं अन्यत्र क्रोधादि भाव देखा जाता है। वही विभावादि से पुष्ट होकर रौद्ररसके रूपमें भक्तोंमें भी हो सकता है।

श्राव्यस्थले पुनर्वर्ण्यवर्णकश्रावकास्त्रयः।
रसस्तत्राप्येवमेव यथायोग्यं निरूप्यताम्॥ १२॥

श्राव्यस्थलमें भी वर्णनीय कृष्णादि सुनानेवाला सुनने

वाले ऐसे तीन होते हैं। इनमें भी रसनिष्पत्ति यथायोग्य पूर्ववत ही है ॥ १२ ॥

इदं रत्यङ्कुरवतां सिद्धानां त्वन्यथास्थितिः ।
तेषां स्मरणमात्रादप्यशेषरससंभवात् ॥ १३ ॥

यह बात प्रथम साधकोंकी है सिद्ध भक्तोंको तो स्मरण मात्र से ही सभी रस स्फुरित होते हैं, नट आदि की आवश्यकता नहीं रहती ॥ १३ ॥

अङ्गीकृत्य ब्रवीम्येतत् पूर्वाचार्यानुसारतः ।
गुरूपदेशलेशेन क्रमशो रसदर्शनात् ॥ १४ ॥
अपश्यन्तोऽप्यशृण्वन्तोऽप्युक्तनाटयकथादिकम् ।
पूजादिरसिका दृष्टा यतयः साधका अपि ॥ १५ ॥

यह मेरा कथन पूर्वाचार्योंका मताङ्गीकार करके समझना चाहिये। वैसे तो गुरूपदेश लेश से भी क्रमशः रसनिष्पत्ति देखनेमें आती है। नाटक न देखनेवाले कथादि न सुननेवाले भी बहुत से साधक एवं संन्यासी पूजादि कर रसानुभूति करते हैं।

(पांच रस ही मुख्य हैं ऐसा मत)

अत्र शान्तं च दास्यं च सख्यं वात्सल्यमेव च ।
माधुर्यं चेति पञ्चाहुः केचिन्मुख्यान् रसान् बुधाः ॥१६॥

रस प्रसंगमें कुछ विद्वानों का मत है कि शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य ये पांच रस मुख्य हैं ॥

प्रसङ्गाच्छान्तश्रृङ्गारप्रेमभक्तय एव हि ।
दर्शिताः स्वामिभिः शेषा गौणा इति च तन्मतम् ॥१७॥

मल्लप्रकरणमें प्रसङ्गानुसार मुख्यरसोंमें शान्त शृङ्गार और प्रेम भक्ति को ही श्री श्रीधरस्वामीने दिखाया। शेष सात गौणरस हैं यह भी पूर्वोक्त विद्वानोंका मत है॥

(वस्तुतः मुख्यरस आठ हैं)

वस्तुतः पञ्च ते किंचाकिंचनस्तन्मयस्तथा।
परमो विरहश्चेति वक्ष्यन्तेऽष्टौ रसा इह ॥ १८ ॥

वस्तुत : उक्त पांच और अकिंचनता, तन्मयता तथा परम विरहको मिलाकर आठ रस देवर्षि नारदजी आगे बतायेंगे ॥ १८ ॥

यत्त्वत्र दानवीराख्यरसो ह्यात्मनिवेदनम्।
तन्नोत्साहरतेरत्रानवलोकनकारणात् ॥ १९ ॥

अकिंचनता रस आत्मनिवेदनासक्तिका स्थायी भाव है। उस पर यह पूर्वपक्ष होता है कि आत्मनिवेदन तो वीररस के अन्तर्गत है। क्यों कि दानवीर दयावीर और युद्धवीर ऐसे तीन वीर माने गये हैं। अतः गौणरसोंमें परिगणित वीररस से अतिरिक्त अकिंचनतारस कैसे होता? इसका समाधान यह है कि वीररसमें उत्साहरति होती है। वह यहाँ नहीं है ॥ १९ ॥

भगवन्तं समुद्दिश्य यत्र दानादिकं भवेत्।
भवेत्तत्रोत्साहरतिर्दद्यां दद्यामितीदृशी ॥ २० ॥
निवेदनं तु नो दानं न वा त्यागः समीरितः।
सर्वं त्वदीयमेवेति स्वत्वस्यैवाप्रसक्तितः ॥ २१ ॥
स्वत्वं हित्वा परस्वत्वापादनं दानमिष्यते।
स्वत्वेनाभिमतात्तद्वत् त्यागः स्वत्वनिवर्त्तनम् ॥ २२ ॥

दान और उत्साहरति वहाँ होती है जहाँ भगवान के उद्देश्य से कुछ दिया जाए दूं दूं ऐसा उत्साह हो। परंतु आत्मनिवेदनमें तो न दान है और न त्याग ही। वहाँ सब वस्तु तुम्हारी ही है मेरा कुछ नहीं ऐसी भावना होती है। अपनी वस्तु के अभावमें दान किसका? दानका अर्थ है कि अपनी वस्तुमें से अपनापन हटाकर दूसरेका अधिकार कराना। और त्याग का अर्थ है अपनी वस्तुमें से अपनापनको सर्वथा निकाल देना ॥ २०-२२ ॥

(सिद्धान्तमें ग्यारह भक्तिरस)

गुणमाहत्म्यपूजादि शान्तभेदचतुष्टयम् ।
इति कृत्वा ब्रूमहेऽष्टावन्यथैकादशैव ते ॥ २३ ॥

गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति और स्मरणासक्तिपक्ष शान्तरस समझकर आठ रस कहा। उन्हें चार मानने पर ग्यारह ही रस हैं ॥ २३ ॥

शान्तदास्यादिषु स्पष्टमहंकारोऽवतिष्ठते ।
अत एवाकिंचनत्वप्रभृतिर्भिद्यते ततः ॥ २४ ॥

प्रश्न उठता है कि आत्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति और परमविरहासक्ति को भी शान्तरस में या यथायोग्य शान्तादि किसी रसमें अन्तर्गत क्यों न माना जाए? इसका उत्तर यह कि शान्तादि रसमें स्पष्टतया अहंकार रहता है। मैं पूजक हूं मैं दास हूं इत्यादि। परंतु आत्मनिवेदन के बाद 'मैं कुछ हूं, यह भाव ही नहीं रहता। अत एव अकिंचन कहा जाता है तन्मयता तो द्वैत को ही मिटा देती है, पृथक्त्वकारी अहंकार क्यों रहने लगा परमविरह की स्थिति तो वाचामगोचर है। अत एव देवर्षि भी एक

अप्रयुक्तशब्द का ही प्रयोग करते हैं—'परमविरह'!। परमानन्द परमपूज्य इत्यादि लोक प्रयुक्त शब्द है। परम-विरह यह एक विलक्षण ही शब्द है॥ २४ ॥

(रस और विभावादि)

रसो वै स इति श्रुत्या कृष्ण एव रसात्मकः ।
विभावादिविभेदेन व्यज्यते स पृथक् पृथक् ॥ २५॥

'रसो वै सः' इस श्रुति से कृष्ण ही रसरूप है। विभावादि भिन्न होने से नानारूप से वही अभिव्यक्त होता है॥ २५ ॥

लौकिके स हि काव्यादौ प्रतिबिम्बात्मना स्फुरेत् ।
अनेकधा तथा बिम्बोऽलौकिके सदुपाधिभिः ॥ २६ ॥

फरक इतना ही कि लौकिक काव्यादिमें कृष्णरूपी रसका प्रतिबिम्ब नानारूप से स्फुरित होता है और अलौ-किक अर्थात् भक्तिस्थलमें बिम्ब ही उपाधिभेद से अनेकधा भासित होता है॥ २६ ॥

विभावोऽप्यनुभावश्च संचारी भाव एव च ।
एतैः पुष्टः स्थायिभावो रसरत्यादिशब्दभाक् ॥ २७ ॥

अत एव विभाव, अनुभाव, संचारीभाव से परिपुष्ट स्थायीभाव को ही लोग रस रति आदि कहते हैं॥ २७॥

(विभाव के दो भेद)

विभाव्यते तु रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते ।
विभावो नाम स द्वेधालम्बनोद्दीपनात्मकः ॥ २८ ॥

विभाव दो प्रकारका है-आलम्बन और उद्दीपन। जिसमें रत्यादि विभावित हो वह आलम्बन विभाव और जिस से हो वह उद्दीपनविभाव ॥ २९ ॥

(आलम्बन विभाव)

आलम्बनं जगुः प्रीतेर्गोचरं चाश्रयं च हि।
भगवानापि भक्ताश्च मुख्येषु स्युस्तथाविधाः ॥ २९ ॥

प्रीतिका विषय तथा आश्रय दोनों ही आलम्बन हैं। मुख्यरस स्थलमें भगवान और भक्त आलम्बन हैं। गौण-रस स्थलमें क्रोधादि का विषय और आश्रय ऐसा विवेक करलेना चाहिये ॥ २९ ॥

* तत्कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथोदयम्।
अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम्* ॥ ३० ॥
नात्र स्वतन्त्ररूपेण पृष्टो भक्तकथोदयः।
भगवत्तन्त्रनैयत्यात्तेषां चोद्याप्रसक्तितः ॥ ३१ ॥

अत एव भागवतमें कहा—हे महाभाग इसलिये आप कथा सुनाएं किन्तु वह कथा कृष्ण संबंधी हो या फिर भगवच्चरणारविन्द मकरन्द पान करनेवाले भक्त संबन्धी हो ॥ इस श्लोकमें पृथक् कोई भक्त चरित्र का प्रश्न नहीं है। कारण भक्तकथा हमेशा भगवत्कथायुक्त ही होती है।

गौणेषु चैद्यप्रभृतिरप्यालम्बनभावभाक्।
परं तदुत्थरत्यादेर्न स्थिरस्थायिभावता ॥ ३२ ॥
यथा दास्यरसादिर्हि स्थिरो भक्तेषु वीक्ष्यते।
नैवं रौद्रादिरस्माच्च मुनिना नाभिधास्यते ॥ ३३ ॥
कामक्रोधादिकं तस्मिन् करणीयमिति ब्रुवन्।
रौद्रादिरससद्भावमात्रं संसूचयिष्यति ॥ ३४ ॥

गौणरसोंमें शिशुपालादि भी क्रोधाद्याश्रयरूपेण आलंबन हैं तथापि उससे उत्पन्न रौद्ररसादि स्थायीभाव स्थिर नहीं होता। जैसे दास्यरस स्थिर हो कर दास भक्त होता है वैसे रौद्ररस से कोई रौद्रभक्त नहीं होता। इसी कारण नारदजी उसकी गणना नहीं करेंगे। हां कामक्रोधादिकं तस्मिन्नेव करणीयं कहकर रौद्रादिरसकी सूचना मात्र करेंगे।

ननु कृष्णः कथंकारमालम्बनमुदीर्यते।
स्थायीभावः फलं नाम रसः सोऽपि स एव यत् ॥३५॥
मैवं वहिरभिव्यक्तरूपेणालम्बनं हरिः।
स एवान्तरभिव्यक्तस्वरूपेण रसात्मकः ॥ ३६ ॥

परं तु कृष्ण आलंबन कैसे? वह तो विभावादिसे परिपुष्ट फलात्मक रसरूप ऊपर बताया। उत्तर यह— बाहर अभिव्यक्त कृष्ण आलम्बन है। और अंदर अभिव्यक्त होने पर वही रसरूप भी है॥ ३५-३६॥

(उद्दीपन विभाव)

गुण जाति क्रिया द्रव्य कालादिभिरनेकधा।
उद्दीपनविभावः स्याद् यद्युगालम्बनो मतः ॥ ३७ ॥

गुण जाति क्रिया द्रव्य कालादि भेदसे उद्दीपन विभाव अनेक होते हैं। उससे युक्त ही आलंबन विभाव होता है॥

सत्यं शौचं दया शान्तिस्त्यागः संतोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षापरतिः श्रुतम् ॥ ३९ ॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्ति धैर्यं मार्दवमेव च॥ ३९ ॥

प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः ।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्त्तिर्मानोऽनहंकृतिः ॥४०॥
इमे चान्ये च भगवन् नित्या यस्मिन् महागुणाः ।
इत्येवं बहुधा प्रोक्ता गुणा उद्दीपनात्मकाः ॥ ४१ ॥

उद्दीपन गुण सत्य शौच इत्यादि हैं। आर्जव=सरलता। प्रागल्भ्य=प्रौढता प्रश्रय=विनय। सह:=प्रचण्डता। भग=ऐश्वर्यादि ॥ ३८-४१ ॥

आर्द्रतावश्यते चाहुर्वात्सल्यादिनिबन्धने ।
सधीरोदात्तललितशान्तोद्धतमुखे बुधाः ॥ ४२ ॥

वात्सल्यार्द्रत्व, मैत्र्यार्द्रत्व, कान्ताभावार्द्रत्व, प्रेमभक्त्यार्द्रत्व, ऐसी चार प्रकारकी आर्द्रता। वात्सल्यवश्यत्व, मैत्रीवश्यत्व, कान्ताभाववश्यत्व, प्रेमभक्तिवश्यत्व ऐसी चार वश्यता। धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त, धीरोद्धत इत्यादि उद्भास्वर सात्विकादिभावाभिव्यङ्ग्य अन्यान्य गुण भी उद्दीपन माने जाते हैं ॥ ४२ ॥

* गुणात्मनस्ते हि गुणान् विमातुं हि क ईशिरे* ।
दिग्दर्शनमिदं तस्माद् भक्तेष्वाह्यो यथोचितम् ॥ ४३ ॥

अनन्तगुणवाले भगवान् में यह एक दिग्दर्शनमात्र है। अथवा इनमें यथायोग्य गुण भक्तरूपी आलम्बनमें ही समझें ॥

जातिस्तु क्षत्रियत्वादिः श्यामत्वादिकमेव च ।
क्रियाश्च रासलीलाद्याः सृष्ट्याद्याश्च प्रकीर्त्तिताः ॥४४॥

उद्दीपन जाति:--कृष्णादि के गोपालत्व क्षत्रियत्वादि श्यामवर्णादि हैं। उद्दीपन क्रिया रासलीला सृष्टिआदिलीला ॥

द्रव्यं तु वस्त्राभरणतुलसीप्रभृतीरितम्।
जन्माष्टमीप्रभृतिकः कालश्चोद्दीपनात्मकः ॥ ४५ ॥

उद्दीपन विभावः--पीतांबर कौस्तुभमणि तुलसी आदि। उद्दीपन कालः--जन्माष्टमी आदि ॥ ४५ ॥

(अनुभाव)

अनुभावास्तु चित्तस्थभावानां व्यञ्जकाः स्मृताः।
अनु पश्चाद् भवन्त्येते रत्युद्भूतेर्विभाविषु ॥ ४६ ॥
उद्भास्वराः सात्त्विकाश्चेत्यनुभावा द्विधा मताः

अनुभाव का अर्थ है रत्युत्पत्ति के बाद आलंवन विभाव भक्तादिमें होनेवाले वे लक्षण जो चित्त के भावोंको व्यक्त करते हैं। उसके दो भेद हैं। उद्भास्वर और सात्त्विक।

(उद्भास्वर अनुभाव)

बाह्यचेष्टात्मना स्पष्टीभवन्त्युद्भास्वराः सदा ॥ ४७ ॥
नृत्यं विलुठितं गानं क्रोशनं तनुमोटनम्।
हुंकारो जृम्भणं श्वासभूमा लोकानपेक्षिता ॥ ४८ ॥
लालास्रावोऽट्टहासश्च घूर्णा हिक्कादयोऽपि च।
उद्भास्वरानुभावा स्यू रत्युत्तरसमुद्भवाः ॥ ४९ ॥

बाह्यचेष्टा से जो स्पष्ट हो वे उद्भास्वरानुभाव हैं। जैसे नृत्यादि। नाचना गाना यह सब अंदर के भावाभिव्यञ्जक बाह्य चेष्टा हैं ॥ ४७-४९ ॥

(सात्त्विक अनुभाव)

अन्तर्विकारमात्रोत्थाः सात्त्विकाः परिकीर्त्तिताः।
ते स्तम्भस्वेदरोमाञ्चाः स्वरभेदोऽथ वेपथुः ॥ ५० ॥

वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ विबुधेरिताः ।
प्रलयो नष्टचेष्टत्वं तूष्णींभावस्थितिर्हि सा ॥ ५१ ॥

आन्तरिक विकार से जो भाव उत्पन्न होते हैं वे सात्विक अनुभाव कहलाते हैं। (इसमें बाह्यचेष्टायें नहीं रहती किन्तु अंदर का विकार लक्षणरूप से बाहर प्रगट होते हैं) स्तब्ध हो जाना, पसीना निकलना, रोमांच होना, आवाज़ रुक जाना, शरीर कांपना, चेहरे आदिका रंग बदल जाना, आँसू गिरना, चुप हो जाना ये आठ सात्विक भाव हैं । प्रलय का अर्थ है–नष्टचेष्टता–तूष्णींभाव–अपने आपमें खो जाना ॥ ५०–५१ ॥

(दोनों अनुभावोंका उदाहरण)

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥५२॥
क्वचिद्रुदन्ति नन्दन्ति हसन्ति प्रलपन्ति च ।
तूष्णीं भवन्ति नृत्यन्ति गायन्ति च हरेर्जनाः ॥ ५३ ॥
स मुहूर्त्तमभूत्तूष्णीं कृष्णाङ्घ्रिसुधया भृशम् ।
तीव्रेण भक्तियोगेन निमग्नः साधुभिर्वृतः ।
इति दिग्दर्शनं ज्ञेयमुभयोरनुभावयोः ।
अग्रे चावश्यकं किंचिद् दर्श्यं देवर्षिणा स्वयम् ॥५५॥

अघहारी हरिका परस्पर स्मरण करते और कराते हुए साधनभक्ति द्वारा प्रेमभक्ति को प्राप्त भक्त पुलकित शरीर हो जाते हैं ॥ कभी वह रोता है, कभी प्रसन्न होता है, कभी हँसता है, कभी प्रलाप करता है, कभी चुप

हो जाता है कभी नाचता गाता है ॥ तीव्र भक्तियोग से हरिचरणामृतपान रस निमग्न हो कर वह एक मुहूर्त्त तक खोया हुआ सा रहा ॥ इत्यादि श्लोक दोनों अनुभावों का दिग्दर्शक है। आगे कुछ आवश्यक अनुभाव स्वयं नारदजी भी कहेंगे ॥ ५२-५५ ॥

(संचारीभाव)

संचारिणस्तु निर्वेदो विषादो दैन्यमेव च ।
ग्लानिः श्रमो मदो गर्वः शङ्कायासोऽप्यपस्मृतिः ॥५६॥
आवेगो व्याधिरुन्मादो मोहो जाड्यं मृतिः स्मृतिः ।
आलस्यमवहित्था च चिन्ता हर्षो धृतिर्मतिः ॥ ५७ ॥
औत्सुक्यं च वितर्कश्चाह्यौग्र्यामर्षचापलम् ।
निद्रा सुप्तिश्च बोधश्चेतीमे व्यभिचरन्ति हि ॥ ५८ ॥

संचारी भाव हैं निर्वेद विषाद आदि। निर्वेद=निराशा। अवहित्था=आकार का गोपन छिपाना ।

परिवर्त्तनशीलत्वादुच्यन्ते व्यभिचारिणः ।
विशेषेणाभिमुख्येनाऽऽगमनादित्यपीतरे ॥ ५९ ॥

ये निरन्तर परिवर्त्तनशील हैं इसलिये व्यभिचारी भाव भी कहलाते हैं। दूसरी व्याख्या-वि=विशेषरूप से अभि=अभिमुख होकर चारी=आते हैं ॥ ५९ ॥

(संचारीभावका उदाहरण)

मा नः कितवबन्धोऽङ्घ्रिं सपत्नीकुचकुङ्कुमैः ।
स्पृश प्रसादं वहतु मानिनीनां विडम्बि सः ॥ ६० ॥

इति भ्रमरगीतादौ क्षणसंचारिणो हि ते।
भावा निर्वेदगर्वाद्या वीक्ष्यन्ते गोपिकाजने ॥ ५९ ॥

भ्रमरगीतादिमें गोपिकाओंमें क्षणसंचारी ये भाव देखे जा सकते हैं। वे कहती हैं–हे भ्रमर! तुम कपटी के बन्धु हो। सौतों के कुचकुंकुम के साथ हमारे चरण मत छुओ। वह कृष्ण उन मानिनियों को भले प्रसन्न करता रहे। पर है यह निन्दित कार्य ॥ ६०-६१ ॥

कितवेति ततो ग्लानिशङ्कामर्षादि सूच्यते।
मा स्पृशेति तथा गर्वमदचापलतादिकम् ॥ ६२ ॥
सपत्नीति मदासूयाविषादावेगतादि च।
वहत्विति च निर्वेदश्चिन्तादिर्मानिनीति च ॥ ६३ ॥

वहां कितव विशेषण से ग्लानि शंका क्रोध आदि सूचित होते हैं। मत छुओ से गर्व, मद चपलता आदि। सपत्नी शब्द से मद, असूया, विषाद, आवेगादि। 'प्रसादं वहतु' से निर्वेद। मानिनी पदसे चिन्ता आदि ॥६२-६३॥

क्षणिकत्वं च तत्रोक्तमलं ह्यसितसख्यतः।
दुस्त्यजस्तत्कथार्थश्चेत्युभयस्यापि वर्णनात् ॥ ६४ ॥

भ्रमरगीतमें ही—हम अब कालोंसे मित्रता नहीं करेंगी। हाय! उनकी लीला कथादिका हम त्याग नहीं कर सकती इस प्रकार गोपिकाएं कहती हैं प्रथम निर्वेद आया फिर क्षणभरमें ही दैन्य चिन्ता आदि ॥ ६४ ॥

(स्थायीभाव)

स्थायी भावोऽनुकार्यादौ फलरूपः समीरितः।
तच्चित्तालम्बनत्वेन स्वचित्तं तादृशं भवेत् ॥ ६५ ॥

अनुकार्य प्राचीन नायकमें स्थायीभाव फलात्मक है। और उनके चित्त का आलम्बन लेकर सामाजिकों का भी चित्त वैसा ही हो जाता है। अतः सामाजिकोंमें भी स्थायी भाव फलरूपेण प्रगट होता है ॥ ६५ ॥

(गुणमाहात्म्यासक्ति और प्रश्रयरस)

परमात्मालम्बनं स्यात् सृष्टयाद्युद्दीपनं मतम् ।
अनुभावस्तूद्ध्र्वदृष्टिदृङ्निमीलनतादिकम् ॥ ६६ ॥
संचारी धृतिहर्षादिः स्थायी स्यात्प्रश्रयो रसः ।
सामाजिकेष्वपि ततः प्रश्रयाख्यरसो भवेत् ॥ ६७ ॥

गुणमाहात्म्यासक्तिमें माहात्म्यपदसूचित महात्मा परमात्मा आलंबन विभाव है। सृष्टि रक्षणादि उद्दीपन विभाव है। ऊपर हाथ उठाना ऊपर दृष्टि करना आँख बंद करना आदि अनुभाव है। धृति हर्षादि संचारी भाव है। स्थायी भाव प्रश्रय रस है। उससे सामाजिकोंमें भी प्रश्रयरस होता है ॥ ६६-६७ ॥

(रूपासक्ति और वीक्षारस)

दिव्ये कृष्णे कान्तिकान्ते चानिमेषावलोकने ।
हर्षादौ च विभावादौ स्थायी वीक्षारसो भवेत् ॥ ६८ ॥

रूपासक्ति सूचित दिव्य कृष्ण आलम्बन है, कान्ति श्यामता आदि उद्दीपन है। एकटक देखना आदि अनुभाव है। हर्षादि संचारी है। वीक्षारस स्थायी भाव है।

(पूजासक्ति और पूजारस)

पूज्ये कृष्णे भगवति प्रणामस्तवनादिके ।
औत्सुक्यादौ विभावादौ स्थायी पूजारसो भवेत् ॥ ६९ ॥

पूज्य कृष्ण आलंबन है भगवान्‌पना-ऐश्वर्य धर्मादि उद्दीपन है। सिर झुकना स्तुति करना आदि अनुभाव है। औत्सुक्यादि संचारी और स्थायी पूजारस है।

(स्मरणासक्ति और स्मृतिरस)

स्निग्धे कृष्णोऽनन्यबन्धौ पुलकाद्यनुभाविनि।
मोहादौ च विभावादौ स्थायी स्मृतिरसो भवेत् ॥७०॥

स्नेहपूर्ण कृष्ण आलम्बन भगवानका अनन्य बन्धु-भाव उद्दीपन. पुलकादि अनुभाव और चिन्तादि संचारी होने पर स्थायी भाव स्मृतिरस होता है ॥ ७० ॥

(प्रश्रयादि को रसरूपता)

प्रार्थनादौ रतिः स्पष्टा सतां प्रश्रयसंश्रिता।
प्रत्यहं दर्शनात्तुष्टिः प्रिये वीक्षारतेर्भवेत् ॥ ७१ ॥

प्रतिदिन भगवानकी प्रार्थना (निष्काम) आदि करने में सत्पुरुषों को रति प्रश्रय के कारण होती है। तथा प्रियको प्रतिदिन एक बार भी न देखा तो बेचैनी और देखने पर संतोष वीक्षा से होता है। अत एव स्थायी भावका नाम प्रश्रयरस और वीक्षारस है ॥ ७१ ॥

यथा युगायते नाथ त्रुटिर्नस्त्वामपश्यताम्।
रूपेति मुख्यताहेतोः शब्दादेरुपलक्षणम् ॥ ७२ ॥

जैसे गोपिकायें कहती थी--आपको न देखने से हमारा एक एक क्षण युग समान बीतता है। 'रूपासक्ति' यहाँ रूपपद उपलक्षण है। शब्दादिका भी ग्रहण करना चाहिये। वीक्षारस भी सर्व साधारण समझना चाहिये ॥

पूजारतेः पूजयैव तुष्यन्ति हरिपूजकाः ।

विस्मृतौ व्याकुलत्वं तु वक्ष्यते मुनिना स्वयम् ॥ ७३ ॥

हरिपूजकको जिस रोज पूजा नहीं होती उस रोज बडी ग्लानि सी होती है इसका कारण पूजारति है । विस्मरणमें व्याकुलता नारदजी स्वयं आगे कहेंगे उसमें हेतु स्मृतिरति है ।

(दास्यरस)

नाथे कृष्णे कृपासिन्धौ सति सेवादिकर्मणि ।

दैन्यादौ च विभावादौ स्थायी दास्यरसो भवेत् ॥७४॥

स्वामी कृष्ण आलम्बन हो कृपा आदि उद्दीपन हो सेवादि भक्तोंमें अनुभाव हो, दैन्यादि संचारी हो तो इनसे पुष्ट दास्यरस होता है ॥ ७४ ॥

(सख्यरस)

मित्रे कृष्णे कृतज्ञादौ सहशय्यासनादिके ।

हर्षादौ च विभावादौ स्थायी सख्यरसो भवेत् ॥ ७५ ॥

सखा कृष्ण आलम्बन, कृतज्ञतादि उद्दीपन, सहशयन सहासनादि अनुभाव और हर्षादि संचारी हो तो स्थायी भाव सख्यरस होता है ।

(वात्सल्यरस)

लाल्ये कृष्णे शैशवादौ मूर्धघ्राणादिकर्मणि ।

वैयग्र्यादौ विभावादौ स्थायी वत्सलतारसः ॥ ७६ ॥

लालकृष्ण आलम्बन, शैशवादि उद्दीपन, मूर्धघ्राणादि अनुभाव, गिरे नहीं पडे नहीं इत्यादि व्यग्रता आदि संचारी इन से पुष्ट वात्सल्यरस है ॥ ७६ ॥

(कान्तरस या मधुररस)

कान्ते कृष्णे मोहनाङ्गे नीवीपातादिके सति ।
निर्वेदादौ विभावादौ स्थायी कान्तरसः स्मृतः ॥ ७७ ॥

कान्त कृष्ण आलंबन, सौन्दर्यादि उद्दीपन, अङ्गशैथिल्य केशबन्धपातादि अनुभाव और निर्वेदादि संचारी है। इनसे पुष्टरस कान्त या मधुररस है ॥ ७७ ॥

(अकिंचनतारस)

कृष्णे प्रभौ सर्वबीजे सर्वात्मस्वनिवेदने ।
तूष्णीमादौ विभावादौ स्थाय्यकिंचनतारसः ॥ ७८ ॥

प्रभु कृष्ण आलंबन, जगदुपादनता उद्दीपन, सर्वात्मनिवेदन अनुभाव, चुप हो जाना आदि संचारी (कभी अनुभाव संचारी भी बनता है) इनसे पुष्ट अकिंचनता रस है। सर्वात्मनिवेदन से भक्त अकिंचन होता है तो उसको एक विलक्षण आनंद उसमें रहता है इसी भक्त के प्रति भगवान का नाम 'अकिंचनवित्त' है ॥ ७८ ॥

(तन्मयतारस)

कृष्णेऽभिन्ने सर्वरसे तच्चेष्टाद्यनुकारिणि ।
जाड्यादौ च विभावादौ स्थायी तन्मयतारसः ॥ ७९ ॥

अभिन्न कृष्ण आलंबन, सर्वरसरूपता उद्दीपन, कृष्ण चेष्टानुकरणादि अनुभाव, जाड्यादि संचारी। इनसे पुष्ट स्थायी तन्मयतारस है ॥ ७९ ॥

लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ।
यद्वा तन्मयता नाम निजविस्मृतिरेव सा ॥ ८० ॥

रासमें भगवद्विरह से गोपिकायें तन्मय होकर भगवल्लीलानुकरण करने लगी थी। अपने आपको भूल जाना भी तन्मयता है उसमें तृष्णींभाव अनुभाव होगा ॥ ८० ॥

(परमविरहरस)

अनिर्देश्ये हरौ प्रेमवार्धौ तद्वत्परेषु च।
स्थायीभावो भवेद्दिव्यविरहः कोऽप्यसौ रसः ॥ ८१ ॥

अनिर्देश्य हरि आलंबन, प्रेमवारिधिरूपता उद्दीपन है अनुभाव और संचारी भाव भी अनिर्देश्य प्रेमवारिधितरङ्गरूप ही है। जैसे अनुभाव तृष्णींभाव है या दिव्यानुभूति, संचारी जडता है या पूर्णबोध, कहना कठिन पड जाता है। ऐसी स्थितिमें दिव्यविरहरस स्थायी भाव है।

शिरो निधाय स्वपिति हरौ निजभुजान्तरे।
राधा रोदित्युषोभाविविरहव्यथिताधुना ॥ ८२ ॥

राधाजी की गोदमें सिर रखकर हरि सो गये हैं। परंतु प्रातःकाल फिर विरह होगा उस विरह को संयोगकालमें अनुभव कर राधा रो रही है। यह कैसा विरह? विशेष व्याख्या यथासंभव अन्तमें करेंगे ॥ ८२ ॥

अनिर्देश्यात् परो नैव कोऽप्युपाधिस्तु संभवेत्।
तस्मान्नातः परः कोऽपि विभागोऽस्ति रसस्य तु ॥८३॥

अनिर्देश्यउपाधि से बढकर और कोई उपाधि संभव नहीं है। अतः अब आगे रसका विभाग नहीं है ॥८३॥

प्रायो लौकिककाव्येषु विभावादिश्च लौकिकः।
किन्तु भक्तिरसे सर्वमलौकिकमुदाहृतम् ॥ ८४ ॥

लौकिक काव्योंमें प्रायः विभावादि भी लौकिक होते हैं। परंतु भक्तिरस में सभी अलौकिक होते हैं ॥ ८४ ॥

अकिंचनत्वादयः स्युरतिदिव्या रसास्त्रयः ।
विनिर्हृतपृथग्भावाद् विभावाद्याश्च तादृशाः ॥ ८५ ॥

अकिंचनत्वादि तीन रस अतिदिव्य हैं । क्यों कि उनमें भक्त और भगवान अलग नहीं रहते । अत एव उनके विभावादि भी अति दिव्य हैं ॥ ८६ ॥

(अलौकिक रस की नित्यता)

सर्व एव रसस्तावल्लौकिकः क्षणभङ्गुरः ।
अलौकिक्यां पुनर्भक्तावविनाशी स तिष्ठति ॥ ८६ ॥
वैराग्येऽपि शुकादेः स व्यासादेर्ज्ञानवत्यपि ।
मृत्यौ च चित्रकेत्वादेः स्थितो भक्तिरसोऽमृतः ॥ ८७ ॥
उपाधिविगमेनौपाधिकरूपव्ययेऽपि च ।
रसमात्रवपुर्भक्तिर्न वियाति कदाचन ॥ ८८ ॥

लौकिक काव्यादि रस क्षणभंगुर है । परंतु अलौकिक भक्तिरस अविनाशी रहता है । वैराग्य होने पर भी शुकादि में, ज्ञान होने पर भी व्यासादिमें और मृत्यु होने पर भी चित्रकेतु आदिमें भक्तिरस अमृत हो कर रहा । वेदान्त मतमें मोक्षकालमें उपाधि के न होने पर औपाधिक भक्तिरूप नहीं रहता, इस मतको मान भी लिया जाए तो भी उपाध्युपलक्षित रसमात्र स्वरूप भक्ति कभी नष्ट नहीं हो सकती ॥ ८६–८८ ॥

(द्वितीयसूत्रसम्बन्धार्थ प्रश्न)

अथोद्भाव्या विभावाद्यैः केयं रसकलेवरा ।
भक्ती रसेषु सर्वेषु या तावदनुवर्त्तते ॥ ८९ ॥

विभावादि से उद्भाव्य, रसमात्रस्वरूप, शान्तादि सर्वरसानुगत वह भक्ति क्या है? (जिसके विभाग के रूपमें आगे शान्तादि रस बताना है) ॥ ८९ ॥

(एक मतः-सेवन भक्ति है)

अत्राहुर्भजनं नाम सेवनं भक्तिशब्दितम् ।
इन्द्रियैर्मनसान्यैश्च हरेरेकान्तसेवनम् । ९० ॥
* सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।
हृषीकेण ऋषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते* ॥ ९१ ॥

भक्ति के बारेमें कुछ आचार्य यह मानते हैं कि सर्वोपाधि रहित (निष्काम) होकर तत्परता से निर्मल होकर इन्द्रिय शरीर और मनसे हरिसेवन ही भक्ति है ॥ ९०-९१ ॥

(दूसरा मतः--कोशादिभञ्जन भक्ति है)

अन्ये त्वाहुर्भक्तिरिति वृत्तिः कोशादिभञ्जनी ।
पापप्रारब्धसंस्कारप्रभृतेर्भञ्जनादपि ॥ ९२ ॥

दूसरे आचार्य कहते हैं कि कोशादि, पाप, प्रारब्ध एवं संस्कारादि को भंजन करनेवाली वृत्ति ही भक्ति है ॥

* देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥ ९३ ॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा* ॥ ९४ ॥

अनन्यमनस्कतया इन्द्रियों की जो स्वाभाविक भगवद्वृत्ति है वह सिद्धि से भी श्रेष्ठ है कोश (अन्नमयादि बन्धन) को नष्ट करनेवाली है ॥ ९३-९४ ॥

* यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम् ।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात् कथारतिम्* ॥

* अथाशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः ।
विधिना च यजेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥ ९६ ॥

तदा रजस्तमोभावा कामलोभादयश्च ये ।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति* ॥ ९७ ॥

* तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः ।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया* ॥ ९८ ॥

* को वा भगवतस्तस्य पुण्यश्लोकेड्यकर्मणः ।
शुद्धिकामो न शृणुयाद् यशः कलिमलापहम्* ॥ ९९ ॥

इत्यादिवचने पापप्रभृतेर्भङ्गकारणम् ।
भक्तिरेवेति कथितं भक्तिस्तद्भञ्जनाद् भवेत् ॥१००॥

इन श्लोकोंमें देखिये भक्ति क्या क्या भञ्जन करती है। कर्मग्रन्थि, हृदयग्रन्थि, राजस तामस कामलोभादि, अधर्म संस्कार, कलिमल इत्यादिका भञ्जन स्पष्ट है ॥

(तीसरा मतः—चिन्तन भक्ति है)

भजनं चिन्तनं चोक्तं भगवन्मात्रगोचरम् ।
* आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा* ॥ १०१ ॥

अनुकूलरूप से निरन्तर भगवन्मात्रचिन्तन भक्ति है यह भी मत है ॥ १०१ ॥

(चौथा मतः—चित्तद्रुति भक्ति है)

चित्तद्रुतिं निजगदुरन्ये भक्तेस्तु लक्षणम् ।
भजेद्भगवदाकारमनयेयं हि वा भजेत् ॥ १०२ ॥

अन्य आचार्य कहते हैं। चित्त द्रुति (चित्तका पिघलना) भक्ति है भज का प्राप्ति अर्थ है भगवदाकार को चित्त जिस से प्राप्त हो वह द्रुति भक्ति है ॥ १०२ ॥

* श्रुतमप्यौपनिषदं दूरे हरिकथामृतात् ।
यन्न सन्ति द्रवच्चित्तप्रेमाश्रुपुलकोद्गमाः* ॥ १०३ ॥
* कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनानन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद् भक्त्या विनाशयः* ॥१०४॥

उपनिषत्प्रोक्त ब्रह्म सुना । किन्तु हरिकथा से दूर रहे । फलतः चित्त पिघला नहीं (भक्ति नहीं हुई) प्रेमाश्रु नहीं बहा रोमांच नहीं हुआ । क्या रोमांच के विना, चित्त द्रुति के विना, प्रेमाश्रु के विना अर्थात् भक्ति के विना हृदय कभी शुद्ध हो सकता है ? कभी नहीं ॥

एवंव्रतो भवन्नामकीर्त्या जातानुरागतः ।
द्रुतचित्तो हसत्युच्चै रौति नृत्यनि गायति ॥ १०५ ॥
* मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥ १०६ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्* ।
इत्यादि वचनाच्चित्तद्रुतेर्भक्त्यभिधानतः ॥ १०७ ॥

भगवन्नामकीर्त्तनादि से अनुराग होने पर चित्त पिघलता है । तब भक्त कभी हसता कभी रोता नाचता गाता रहता है। मेरे गुण श्रवण मात्र से मुझ भगवानमें जिस प्रकार गंगाजल निरन्तर समुद्रमें गिरता है वैसे मनोगति निरन्तर हो तो यही निर्गुण भक्ति का लक्षण

है। (गङ्गाजलप्रवाह उदाहरण से चित्तका द्रवीभाव सूचित होता है ॥ १०५-१०७ ॥

तदश्मसारं हृदयं नाम्ना नो विकरोति यत् ।
इत्यादिना च काठिन्यं भक्त्यभावात्प्रदर्शितम् ॥१०८॥

'वह पत्थर या वज्र का हृदय है जो भगवन्नाम सुनने पर पिघलता नहीं' यहाँ भी भक्ति के अभावमें कठिनता बतायी है ॥ १०८ ॥

(ये चारों तटस्थलक्षण हैं स्वरूपलक्षण नहीं)

वस्तुतः सर्वमेवेदं तटस्थं लक्षणं भवेत् ।
स्वरूपलक्षणं भक्तेः प्रेमैव भवितुं क्षमम् ॥ १०९ ॥

वस्तुतः ये सभी भक्ति के तटस्थ लक्षण हैं स्वरूप लक्षण तो प्रेम ही हो सकता है।

ननु स्याद् द्रुतचित्तत्वं भक्तेस्तद्विधलक्षणम् ।
तद्धयेव प्रोक्तमाचार्यमधुसूदनयोगिभिः ॥ ११० ॥
* द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥ १११ ॥
चित्तद्रव्यं तु जतुवत्स्वभावात्कठिनात्मकम् ।
तापकैर्विषयैर्योगे द्रवत्वं प्रतिपद्यते* ॥ ११२ ॥

पूर्वपक्षः—द्रुतचित्तत्व भक्तिका स्वरूपलक्षण हो सकता है। आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने कहा है-भागवत धर्म से द्रुतचित्तकी भगवानमें धारावाहिक वृत्ति भक्ति है। चित्त एक द्रव्य है जतु (लाक्षा) के समान स्वभावतः कठिन तो है। किन्तु तापक विषयों के संयोग से पिघल जाता है ॥ ११०-११२ ॥

मैवं, तटस्थमेवोक्तं लक्षणं कार्यलक्षणम् ।
तथा हि तापकाः प्रोक्ताः समनन्तरवाक्यतः ॥ ११३ ॥

* कामक्रोधभयस्नेहहर्षशोकदयादयः ।
तापकाश्चित्तजतुनस्तच्छान्तौ कठिनं तु तत् * ॥ ११४ ॥

अत्र स्नेहश्च कामश्च तापकत्वेन वर्णितौ ।
आदिना प्रेमभक्त्यादि तथा च वचनं मुनेः ॥ ११५ ॥

* गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
संबन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो * ॥

कामादिवद्भक्तिरपि सहपाठात् सहक्रमा ।
स्पष्टं च मन आवेशहेतुत्वं प्राङ्मुनिर्जगौ ॥ ११७ ॥

* कामाद् द्वेषाद् भयात्स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः ।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः * ॥ ११८ ॥

आवेशनं भगवति यदाह मनसोऽत्र तत् ।
द्रुतिपूर्वतदाकारवृत्त्यजस्रप्रवाहणम् ॥ ११९ ॥

उत्तरः--श्रीमधुसूदन सरस्वतीने भी तटस्थलक्षण ही कहा है। चित्तद्रुति भक्ति का कार्य है। उनके अग्रिम वाक्यमें तापकों के वर्णन से इसका पता चलता है। वे कहते हैं:-काम, क्रोध भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि चित्तलाक्षा के तापक हैं। तापक शान्त होने पर चित्त फिर से कठिन हो जाता है॥ इस वर्णनमें स्नेह और कामको तापक कोटि में डाला है। अत एव चित्तद्रुति

कार्य है । उस वर्णनमें 'आदि' पदसे प्रेमभक्तिका भी ग्रहण है । अत एव भागवतमें—काम से गोपियां, भय से कंस, द्वेष से शिशुपालादि, संबन्धभावनासे वृष्णिवंशी, स्नेह से आप लोग (युधिष्ठिरादि) और भक्ति से हम (नारद) भगवद्रति को प्राप्त हो गये ऐसा कहा। कामादि के सह-पठित भक्ति भी समान कार्यकारिणी है । और उससे पूर्वका प्रसङ्ग देखिये:—भक्ति के समान ही काम, द्वेष, भय और स्नेह से भी भगवानमें मनको प्रवेश करा कर पाप नाशकर बहुत से लोग भगवद्रति को प्राप्त हो गये। इसमें प्रवेश करानेका अर्थ है-द्रुतिपूर्वक भगवदाकार वृत्तिका निरन्तर प्रवाहीकरण । उसमें 'भक्ति के समान' यह दृष्टान्त कथन पूर्वोक्त बात को साबित करता है ॥

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि ।
मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम् ॥ १२० ॥
इत्यग्रे वर्णितं तैर्हि टीकया च स्फुटीकृतम् ।
न हि वृत्तिर्हि भगवान् यो रसो भक्तिलक्षणः ॥ १२१ ॥

श्रीमधुसूदन सरस्वती के आगे वचन देखिये:— 'परमानन्द स्वरूप भगवान ही मनोगत हो तदाकार होकर रसरूप होते हैं।' रस ही तो भक्ति है । क्या वृत्ति ही भगवान् है? या चित्तद्रुति भगवान है?। उनकी टीकामें भी बात स्पष्ट है ॥ १२०-१२१ ॥

(परंतु सिर्फ 'प्रेम' यह भी स्वरूपलक्षण नहीं)

सामान्यतः पुनः प्रेम पुत्रादावपि वीक्ष्यते ।
स्वरूपलक्षणं तस्माद् भक्तेस्तदपि नोचितम् ॥ १२२ ॥

परंतु सामान्यप्रेम पुत्रादिमें भी देखा जाता है। अतः प्रेम भक्ति है इतना कहने से भी लक्षण बनता नहीं हैं ॥

(सूत्राभिमत स्वरूपलक्षण का उपक्रम)

उक्तवृत्तिविशेषादिसंलक्ष्या भूयसी ततः ।
वक्तव्यगुणमाहात्म्यासक्त्याद्यनुगता च या ॥ १२३ ॥
अविनाशिस्वरूपाया रसमात्रैकवर्ष्मणः ।
स्वरूपलक्षणं तस्या देवर्षिरिदमब्रवीत् ॥ १२४ ॥

पूर्वोक्त मनोवृत्ति चित्तद्रुति आदि से उपलक्षणीय अथ च इन सब से श्रेष्ठ एवं आगे बताये जानेवाले गुण-माहात्म्यासक्ति आदि एकादश प्रकार भक्तिमें जो अनुगत है, जिसका स्वरूप अविनाशी है (वृत्ति के समान विनाशी नहीं) रस मात्र जिसका स्वरूप है (वासना आदि नहीं) उस भक्तिका देवर्षि नारद यह स्वरूपलक्षण कह रहे हैं ॥

● सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥ २ ॥ ●

भगवानमें परम प्रेम ही उस भक्तिका स्वरूप है ॥२॥

(सूत्रस्थ 'तु' शब्द का अर्थ)

नित्या रसस्वरूपा च व्याख्येया भक्तिरत्र या ।
सा नान्या लक्ष्यतेऽत्रेति तुशब्देनाभिसूच्यते ॥ १२५ ॥

प्रतिज्ञा सूत्रमें नित्य एवं रसस्वरूप जो भक्ति व्याख्येय बतायी उससे अन्य गौण भक्त्यादि की व्यावृत्ति के लिये 'तु' शब्द है ॥ १९५ ॥

ननु प्रतिज्ञासूत्रेऽपि साधनात्मापि सा भवेत् ।
साधनान्यपि वाच्यानि शास्त्रेऽस्मिन् मुनिना खलु ॥१२६॥

एवं च लक्षणमिदमव्याप्तिकलितं भवेत् ।
मैवं प्रतिज्ञासूत्रेऽपि मुख्येष्टा भक्तिशब्दतः ॥ १२७ ॥
प्रधाने राज्ञि संयाति तदङ्गान्यपि हि स्वतः ।
अनुयान्ति तथात्रापि साधनानि स्वयं खलु ॥ १२८ ॥
आङैव वोपसर्गेण तानि व्याख्यातिवर्त्तिना ।
लभ्यानीति प्रतिज्ञायां मुख्यैवेष्टा स्वशब्दतः ॥ १२९ ॥

शंका—प्रतिज्ञासूत्रमें साधनभक्ति का भी निर्देश है। अत एव शास्त्रमें साधनकथन असंगत नहीं होता। तब यह लक्षण साधनमें अव्याप्त हुआ। उत्तरः—प्रतिज्ञासूत्र में भी भक्ति शब्दका मुख्य भक्ति ही अर्थ है। प्रधान राजा जाता है तो अमात्यादि अंग अपने आप जायंगे। वैसे यहाँ भक्ति आयी तो साधन भी अपने आप व्याख्येयतया आ जायंगे। अथवा 'व्याख्यास्यामः' में आङ् उपसर्ग से साधन लाभ हो सकता है। भक्ति शब्दका मुख्य भक्ति ही अर्थ है ॥ १२५-१२९ ॥

('अस्मिन्' पद में सर्वनामका अर्थ)

सर्वभावेन भगवान् भजनीय इति स्वयम् ।
वक्ष्यते यः स भगवानुच्यते सर्वनामतः ॥ १३० ॥
ईश्वरस्येति वक्तव्यमग्रेऽसौ सर्वनामतः ।
अस्मिन्नित्यापरोक्ष्येण धृत इत्यपि केचन ॥ १३१ ॥

"सर्वदा सर्वात्मभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः" इस सूत्रमें स्थित भगवान यहाँ सर्वनाम का अर्थ है। 'ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वात्' में जो ईश्वर बतायेंगे वह सर्वनामार्थ ऐसा भी मत है ॥ १३०-१३१ ॥

स चात्र भगवान् कृष्णः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इति भागवताद्युक्तेस्तथाऽऽचार्याश्च संजगुः ॥ १३२ ॥
वक्ष्यते व्रजगोपीनां निदर्शो भक्तिलक्षणे ।
तेनापि कृष्ण एवात्र बोध्य इत्यवगम्यते ॥ १३३ ॥

वह भगवान यहाँ कृष्ण ही हैं । " कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" ऐसा भागवत वचन है। गीताभाष्यादिमें आचार्यों ने भी वैसा कहा है । भक्तिलक्षणमें आगे नारदजी गोपिकाओंका दृष्टान्त बतायेंगे । अतोऽपि कृष्ण ही यहाँ विवक्षित है ॥ १३३ ॥

यद्वा हनुमदादीनां भक्त्याचार्यत्ववर्णनात् ।
वैष्णवं पदमेवात्र भगवच्छब्दशब्दितम् ॥ १३४ ॥

हनूमान विभीषणादि को भी अन्तमें भक्ताचार्य बतायेंगे । अतः वैष्णव पद ही भगवत् शब्दका अर्थ मानना अधिक युक्तियुक्त है।

लिङ्गाभिमानशून्यो यो भक्तानामनुकम्पया ।
अरूपोऽप्युरुरूपाणि धत्ते स भगवान् परः ॥ १३५ ॥

गजेन्द्रस्तुत्युक्त लिङ्गाभिमानशून्य अरूप अथ च भक्तानुकम्पया नानारूपधारी परमेश्वर ही वस्तुतः भगवान है यही सिद्धान्त है । अत एव यहाँ नामानिर्देश है ॥१३५॥

(अस्मिन् पदकी आवश्यकता)

ननु चानात्मविषयं नैव प्रेमेति वक्ष्यते ।
अस्मिन्निति पदं तर्हि वृथा चेदत्र केचन ॥ १३६ ॥

सर्वेषां परमं प्रेम स्वात्मन्यस्तीति निश्चितम् ।
मा न भूवं हि भूयासमित्येवं प्रेमदर्शनात् ॥ १३७॥
यत्तु प्रेमापि परमं भेदसापेक्षमिष्यते ।
न हि स्वस्मिन् स्वभेदोऽस्ति कथं प्रेमेति तन्नसत् ॥१३८॥
उपाधिभेदविहितभेदेनाप्युपपत्तितः ।
तस्मान्निजात्मविषयप्रेमव्यावृत्तये पदम् ॥ १३९ ॥

शंकाः—अनात्मामें मोह होता है प्रेम नहीं । अतः ‘अस्मिन्’ यह पद व्यर्थ है। कुछ लोगोंका यहाँ उत्तरः- मैं न मरूं हमेशा रहूं ऐसा प्रेम स्वात्मा में होता है। उसकी व्यावृत्ति के लिये परमात्मामें प्रेम भक्ति कहा। यह कहना ठीक नहीं है कि भिन्न वस्तुमें प्रेम होता है। स्वात्मामें प्रेम कैसा? क्यों कि उपाधिभेद से स्वात्मामें भी भेद है उतने से प्रेम संभव है। अतः स्वात्मप्रेमव्यावृत्त्यर्थ ‘अस्मिन्’ पद है ॥ १३६-१३९ ॥

परे तु परमं प्रेम हरेर्यद् भक्तगोचरम् ।
तद्व्यावृत्त्यर्थमुदितमस्मिन्निति विशेषणम् ॥ १४० ॥

दूसरोंका उत्तरः—भगवान का भक्त के प्रति भी प्रेम होता है। परंतु वह भक्ति नहीं कहलाती। उसकी व्यावृत्ति के लिये ‘अस्मिन्’ पद है ॥ १४० ॥

वस्तुतः प्रेम पुत्रादौ परमं ये तु मन्वते ।
अप्रत्याख्याय तान् पूर्वं लक्षणं मुनिरब्रवीत् ॥ १४१ ॥
व्यावर्त्तयन्तु ते पुत्रप्रेमादीति विशेषणम् ।
अन्येषां पुनरेतत्तु स्वरूपकथनं भवेत् ॥ १४२ ॥

वस्तुतः उत्तर यह है कि जो लोग पुत्रादि प्रेम को भी परमप्रेम मानते हैं उनका निराकरण किये विना ही देवर्षिने लक्षण बोल दिया है। वे अल्पज्ञ पुरुष पुत्र प्रेमादि की व्यावृत्ति कर लें एतदर्थ अस्मिन् यह विशेषण है। दूसरों के लिये यह स्वरूप कथन मात्र होगा ॥१४१-१४२॥

('त्वस्मिन्' यह एक शब्द माना जा सकता है)

त्वत्त्वदित्यन्यपर्यायौ सर्वादिगणवर्त्तिनौ।
सप्तम्यन्तं तयोस्त्वस्मिन्निति रूपं प्रवर्त्तते ॥ १४३ ॥

सर्वादिगण में 'त्वत्' 'त्व' ऐसे दो शब्द हैं। दोनोंका सप्तमीमें 'त्वस्मिन्' यह रूप होता है। (त्वदधरम धुरमधूनि इस प्रयोगमें जयदेव कविने इसीका प्रयोग किया है) ॥ १४३ ॥

(त्वस्मिन् का एक तात्पर्यार्थ)

परकीयाभावभाजः परमप्रेम यद्भवेत्।
सा भक्तिरिति सूत्रार्थः सा शुद्धा भक्तिरिष्यते ॥१४४॥

परकीयाभावसहित परमप्रेम भक्ति है यह सुत्रार्थ है। यही शुद्ध भक्ति है ॥ १४४ ॥

स्वकीयाः परकीयाश्च गोप्यः प्राज्ञैर्द्विधा स्मृताः।
परकीयाभावमात्रं न परस्त्रीत्वमेव तत् ॥ १४५ ॥
ममैवांशो जीवलोक इति कृष्णेन कीर्त्तनात्।
सर्वोऽशबृगलो विष्णोः परस्त्री क्वेव तद्धरेः ॥ १४६ ॥

गोपिकाएं दो प्रकार की प्रसिद्ध हैं। स्वकीया और परकीया। परकीयाभाव मात्र है न कि परस्त्रीत्व। क्यों

कि सभी जीव भगवान के अंश हैं तो भगवान के लिये परस्त्री हुई ही कैसे?॥ १४५-१४६ ॥

परकीयाभाव इति लक्षणं न स एव सः ।
अयं भावविशेषो हि सुदुर्लक्ष्यः पदान्तरैः ॥ १४७ ॥

'परकीयाभाव' यह भी एक लक्षण मात्र है न कि लोक प्रसिद्ध परकीयाभाव। यह एक विलक्षण भाव है। दूसरे शब्दोंसे इसका वर्णन कठिन है ॥ १४७ ॥

स्वाङ्के स्वपन्तमालोक्य कृष्णं रोदिति राधिका ।
त्यक्त्वा यास्यत्युषस्येष इति भाविवियोगभीः ॥ १४८ ॥
अन्येद्युर्यदि नागच्छेत् किं कर्त्तुं प्रभवाम्यहम् ।
सोऽयं हृदयदाहस्तु परकीयाख्यभावतः ॥ १४९ ॥

अपनी गोदमें सिर रखकर सोते हुए हरिको देखकर भी कल सुबह यह मुझे छोड कर जाएगा इस भाविवियोग भय से राधिका रो रही है। यदि दूसरे दिन कृष्ण नहीं आया तो मैं क्या कर सकती हूं यह हृदयदाह परकीया भाव से होती है ॥ १४८-१४९ ॥

आगमिष्यत्ययं तूर्णं ममैवासौ सुतो यतः ।
इति भावे यशोदाया नायं दाहोऽवलोक्यते ॥ १५० ॥
देवक्यास्तनयं कृष्णं ज्ञात्वा कंसवधोत्तरम् ।
अलभ्यदर्शनं मत्वा रोदित्यन्ते तु दाहतः ॥ १५१ ॥

इसके विपरीत कृष्ण के जाने पर भी यशोदा को दाह नहीं होती। वह समझती है कि गया तो वापिस भी आएगा। पुत्र तो मेरा ही है। परंतु बादमें जब मालूम

हुआ कि कृष्ण देवकीपुत्र हैं तब परकीयाभाव से हृदय-दाह से रोने लगती है ॥ १५०-१५१ ॥

लौकिक्या परकीयाख्यं रीत्या ज्ञात्वा क्रमेण तु ।
दिव्यं भावविशेषं तं विज्ञातुं शक्नुयुर्बुधाः ॥ १५१ ॥

पूर्वोक्त उदाहरण एक लौकिक रीति मात्र है । उससे दिव्य भावविशेषका अंदाजा विद्वान् लगा सकते हैं ॥

सर्वोत्कृष्टमिमं भावमभिव्यञ्जयितुं मुनिः ।
वक्ष्यतेऽग्रे हि परमविरहासक्तिमन्ततः ॥ १५३ ॥

इसी सर्वोत्कृष्ट भाव को अभिव्यक्त करने के लिये अन्तमें नारदजी परमविरहासक्ति बतायेंगे ॥ १५३ ॥

सोपाधिको यद्यपि स किन्तु संनिकटत्वतः ।
तेनोपलक्ष्यतां कोऽपि भावोऽयं निरुपाधिकः ॥ १५४ ॥

यद्यपि परमविरहासक्तिगत परकीयाभाव भी सोपाधिक है । यहाँ तो एकादशानुगत निरुपाधिक भक्तिका निरूपण करना है । तथापि अन्तिम होने से संनिकट निरुपाधिकका इससे उपलक्षण आसानी से कर सकते हैं ॥

वक्ष्यते यदनिर्वाच्यमुपलक्ष्यं हि तत् खलु ।
तन्त्रेण वा विनिर्देश इति सर्वं समञ्जसम् ॥ १५५ ॥

जो प्रेम अनिर्वचनीय आगे बताया जायगा उसको उपलक्षण से ही समझना होगा । (अतः संनिकट उपलक्षण कहना उचित ही है) अथवा दोनोंका यहाँ तन्त्रतः निर्देश है ऐसा भी माना जा सकता है ॥ १५५ ॥

('त्वस्मिन्' का दूसरा अर्थ)

नेति नेतीति वाक्येन सर्वान्यो यः प्रदर्शितः ।
अन्यो ह्यन्तर आत्मेति योऽन्तरात्मा च कीर्त्तितः ॥१५६॥
प्रियरूपेण लोकेषु विश्रुताच्चान्य एव यः ।
तस्मिंश्च परमप्रेम भक्तिरित्यभिधीयते ॥ १५७ ॥

'नेति नेति' श्रुति से जो सर्वान्य दिखाया, 'अन्यो ह्यन्तर आत्मा' श्रुति से जो अन्य सर्वान्तरात्मा बताया, संसारमें प्रियरूप से जो भी हैं उन सब से जो अन्य है उस परमाद्वैत परमात्मामें परमप्रेम भक्ति है यह भी अर्थ है ॥ १५६–१५७ ॥

(प्रेम के स्वरूप पर विचार)

अथेदं प्रेम किं नाम यद्रूपा भक्तिरिष्यते ।
अत्र केचित् समाचख्युः प्रेमलक्षणकोविदाः ॥ १५८ ॥

भक्ति प्रेमस्वरूप है । परंतु प्रेम क्या चीज है ? इस पर विद्वानोंका मत है:— ॥ १५८ ॥

(ममताभाव प्रेम ?)

* सम्यङ् मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः ।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते* ॥ १५९ ॥
तच्चिन्त्यं परकीयाख्यमुख्यभावानुपग्रहात् ।
ममताशिथिलीभावे दाहोद्धर्षप्रदर्शनात् ॥ १६० ॥

जो चित्त को मुलायम करे और अतिशय ममता से युक्त हो वह भाव कहलाता है, वही घनीभूत होने पर प्रेम कहलाता है ऐसा लक्षण चिन्त्य है । क्यों कि इसमें परकीयाभावरूपी मुख्यभाव ही छूट जाता है । हम पहले

दिखा चुके कि कृष्ण मेरा नहीं देवकी का पुत्र है समझने पर यशोदाजीका हृदयदाह भयंकर हो गया था॥

* अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः* ॥ १६१ ॥
इत्यत्र ममतां व्याख्यन्ममता प्रेमसङ्गता।
प्रेम्णः सङ्गो हि यस्मिन् स्यात्तत्वैव ममतेति हि ॥१६२॥
ममता संगता प्रेम्णा न तु द्वेषादिनेति तु।
निरस्तं परकीयाख्यभावाऽसंग्रहहेतुतः ॥ १६३ ॥

रूपगोस्वामीने पूर्वोक्त स्वलक्षण समर्थनमें अनन्य ममता विष्णौ इत्यादि प्रमाण दिया है। उसका अर्थ उन्होंने समझा कि प्रेम से संगत=युक्त अनन्य ममता ही भक्ति है। प्रेमसंगत यह द्वेषादिसंगत की व्यावृत्ति के लिये है। परंतु वास्तवमें वह व्यावृत्त्यर्थ नहीं किन्तु ममता की व्याख्या है। प्रेम का संग जिसमें हो उसका भाव प्रेम-सङ्ग-ता ऐसा तल्प्रत्ययान्त है। प्रेम सम्बन्ध ही ममता का अर्थ है प्रसिद्ध ममता नहीं यह व्याख्यानार्थ है। अन्यथा परकीयाभावाऽसंग्रह दोष बता चुका ॥ १६३ ॥

(वासना प्रेम?)

आनन्दानुभवोद्भूतां वासनामितरे जगुः।
असुखात्मनि न प्रेमेत्येवं संक्षेपकोक्तितः ॥ १६४ ॥
द्रुते चित्ते विनिक्षिप्तः स्वाकारो यस्तु वस्तुना।
संस्कारादिपदः स स्यादित्यन्यत्रापि वर्णनात् ॥ १६५ ॥
तच्च चिन्त्यं समुत्पन्ना वासना नश्यतीति ध्रुवम्।
आश्रयस्यापि चेन्नाशो वासना शाश्वती कथम् ॥१६६॥

दूसरा मतः—आनन्दानुभूतिजन्य वासना प्रेम है। सर्वज्ञात्म मुनिने इसीलिये कहा-असुखमें कभी प्रेम नहीं होता। द्रुतचित्तमें वस्तु के द्वारा निक्षिप्त अपना आकार ही वासना है इत्यादि भक्तिरसायनमें भी कहा है। परंतु यह मत भी चिन्त्य है। उत्पन्न वासना नष्ट भी होगी। उसका आश्रय चित्त ही नष्ट होता है तो वासना शाश्वत कैसी ? परन्तु प्रेम तो नित्य माना गया है ॥१६४-१६६॥

(मायावृत्ति प्रेम ?)

एतेन प्रेम नामेदं मायावृत्तिभिदा मता।
विलक्षणा सेति नित्येत्यादि सर्वं पराकृतम् ॥ १६७ ॥
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति हि श्रुतिः।
ब्रवीति मायाऽनित्यत्वं वृत्तिर्नित्या कथं तदा ॥ १६८ ॥

तीसरा मत:—मायावृत्ति प्रेम है वह विलक्षण होने से नित्य हो सकती है। यह मत भी निःसार है। माया ही की निवृत्ति श्रुति कह रही है। उसकी वृत्ति नित्य कैसी ?॥ १६७-१६९ ॥

(ह्लादिनी शक्ति प्रेम ?)

परे तु मायावृत्त्यादेर्नाधीनो हरिरित्यतः।
न तत्प्रेम श्रुतिर्ह्याह परो भक्तिवशः पुमान् ॥ १६९ ॥
ततश्च ह्लादिनी शक्तिर्भक्तिः प्रेमेति चोच्यते।
वैष्णवादौ निगदितं रहस्यं परमं त्विदम् ॥ १७० ॥
चिन्त्यं तदपि किं तर्हि शक्त्यधीनो नु शक्तिमान्।
चित्तवृत्तेरधीनत्वमपि तर्हि कुतो न हि ॥ १७१ ॥

ननु शक्तिस्वरूपाया राधाया वशगो हरिः ।
तथैव ह्लादिनीशक्तिवशगः किं न संभवेत् ॥ १७२ ॥
सत्यं तद्वशगो नूनं लीलयेत्युपगम्यते ।
लीलया चित्तवृत्त्यादिवशगत्वेऽपि का क्षतिः ॥ १७३ ॥
किं च भक्तिं ददातीशः प्रसन्नः सन्निति स्मृतम् ।
स्वाभिन्नां ह्लादिनीं शक्तिं स्वीयां दद्यात्कथं नु सः॥१७४॥
दत्वा च तत्पराधीनः कथं स्यान्नैव मन्महे ।
दानात्पूर्वं कथं तस्या न पराधीनता हरौ ॥ १७५ ॥

चौथा मतः—श्रुतियोंमें भगवान को भक्तिपराधीन बताया है । मायावृत्ति आदि के पराधीन हरि नहीं हो सकते । अतः भगवानकी ह्लादिनी शक्ति ही भक्ति है । ह्लादिनी शक्ति के बारेमें विष्णुपुराणादिमें रहस्य वर्णन है । यह मत भी चिन्तनीय है । भला शक्तिमान् हरि शक्ति के अधीन कैसे ? शक्ति के आधीन हो सकते हैं तो चित्त-वृत्ति के अधीन क्यों नहीं? । यदि कहो जैसे शक्तिरूपी राधिका के अधीन हरि हैं वैसे ह्लादिनी शक्ति के भी अधीन हो सकते हैं उसका जवाब यह कि भगवान लीला से राधिका के अधीन होते हैं वैसे फिर ह्लादिनी के समान चित्तवृत्ति विशेष के भी अधीन लीलया हो सकते हैं । दूसरी बात यह कि भगवान प्रसन्न होने पर भक्ति देते हैं ऐसा शास्त्रोंमें बताया है । परंतु स्वाभिन्न शक्तिको अपने से पृथक् करके कैसे दे सकते हैं और अपनी दी हुई शक्ति के पराधीन कैसे होते हैं ? देने से पहले उसके पराधीन कैसे नहीं रहे ?

व्यापारसुप्तिस्मरणकीर्त्तनादौ कथं वद ।
उद्भवाभिभवौ भक्तेर्ह्लादिन्यास्तारतम्यतः ॥ १७६ ॥
यदि चैव परेशांशे जीवेऽपि ह्लादिनी स्थिता ।
वृत्त्याभिव्यज्यते सा च भगवत्करुणोत्थया ॥ १७७ ॥
तदा प्रकारान्तरतो वृत्तिदानं प्रसाधितम् ।
हरेश्च वृत्त्यधीनत्वमन्वयव्यतिरेकतः ॥ १७८ ॥

जिस ह्लादिनी शक्ति को ईश्वरने दिया उसका कभी अधिक प्राकट्य कभी कम प्राकट्य और कभी न्यूनाधिक भावसे अभिभव स्मरण, कीर्त्तन, व्यापार और निद्रादि के समय जो होता है उसकी उपपत्ति किस प्रकार? यदि कहो कि ईश्वरांश होने से जीवमें भी ह्लादिनी शक्ति है। वृत्ति से उस की अभिव्यक्ति मात्र होती है। वृत्ति भगवत्कृपा से होती है; तब तो प्रकारान्तर से यही सिद्ध किया कि भगवान् वृत्ति को देते हैं। और अन्वयव्यतिरेक से वृत्ति के ही अधीन भगवान सिद्ध हुए।

तस्माद्विलक्षणं तत्त्वं दिव्यं वाचामगोचरम् ।
तदनिर्वचनीयं हि वक्ष्यतेऽग्रे महर्षिणा ॥ १७९ ॥
स्वानुभूत्येकवेद्यं तत्कथंचिद् बुध्यते पदैः ।
सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे ॥ १८० ॥
न लिश्यते कदाप्येव वर्धते च निरन्तरम् ।
प्रतिक्षणं नवनवं रसं वितनुते सताम् ॥ १८१ ॥
अदोषदक्त्वं तनुते रूक्षतां हापयत्यपि ।
भयलज्जादिकान् भावान् प्रेयोऽर्थान् प्रणयत्यलम् ॥१८२॥

परमं व्याकुलत्वं च तदर्थं विदधाति च।
अनिच्छतोऽपि तन्मात्रचिन्तामापादयत्यपि ॥ १८३ ॥

इस लिये प्रेम विलक्षण दिव्य तत्त्व है वाणी का वह विषय नहीं यही कहा जा सकता है। नारदजी भी आगे उसे अनिर्वचनीय ही बतायेंगे। फिर भी कथंचित् पदों से उपलक्षणतया समझाया जाता है जैसे कि वह प्रेम नाश कारण के उपस्थित होने पर भी नष्ट नहीं होता, न घटता, किन्तु निरन्तर बढता ही रहता है। प्रतिक्षण नया नया रस प्रकट करता है, दोष दृष्टि को और रूक्षता को मिटाता है। प्रियके निमित्त भय लज्जादि भावों को पैदा करता है, प्रेयोऽर्थं परमव्याकुलता उत्पन्न करता है। इच्छा न होने पर भी उसीकी चिन्ता कराता है इत्यादि॥

(सिद्धान्त)

वस्तुतस्तु हरिः सत्यचिदानन्दरसात्मकः ॥ १८४ ॥
जीवोऽप्यंशात्मकः सत्यचिदानन्दरसात्मकः ॥ १८४ ॥

वस्तुत : हरि सच्चिदानन्द रसात्मक है। और उसका अंश जीव भी सच्चिदानन्दरसात्मक है ॥ १८१ ॥

व्यज्यते ज्ञानवृत्त्या चिद् भोगवृत्त्या सुखं पुनः।
प्रेमवृत्त्या रसश्चेति त्रिधा तत्र गतिर्भवेत् ॥ १८५ ॥

ज्ञानवृत्ति से चित्, भोगवृत्ति से सुख और प्रेमवृत्ति से रस अभिव्यक्त होता है॥

वैलक्षण्यं तु वृत्तीनां सर्वानुभवगोचरम्।
चित्तीयत्वाविशेषेऽपि लज्जाक्रोधभयादिवत् ॥१८६॥

चित्तवृत्तिरूप से समान होने पर भी वैलक्षण्य अनुभवसिद्ध है। जैसे चित्तवृत्ति होने पर भी लज्जा, क्रोध एवं भयादिमें परस्पर वैलक्षण्य है ॥ १८३ ॥

वृत्तौ ज्ञानसुखत्वादेरौपचारिकता यथा ।
वृत्तौ प्रेमत्वमप्ये व मौपचारिकमिष्यते ॥ १८७ ॥

वास्तवमें ज्ञान सुख आत्मा ही है वृत्तिमें ज्ञानत्व सुखत्वादि गौण है। वैसे वृत्तिमें प्रेमत्व भी गौण ही है।

बुद्धियोगं ददामीति वृत्त्युद्भावनमुच्यते।
ददामि भक्तिमिति च वृत्त्युद्भावनमुच्यते ॥ १८८ ॥

भगवानने कहा 'मैं बुद्धियोग देता हूँ' उसका अर्थ है बुद्धिवृत्ति को उत्पन्न करना। वैसे ही भक्ति देता हूं का अर्थ है प्रेमवृत्ति उत्पन्न करना ॥ १८५ ॥

ज्ञानवृद्धिर्यथा ज्ञानावरणक्रमभङ्गतः ।
प्रेमवृद्धिस्तथा प्रेमावरणक्रमभङ्गतः ॥ १८९ ॥

ज्ञानावरण का क्रमशः हटना ही ज्ञानवृद्धि है। वैसे प्रेमावरणका क्रमशः हटना ही प्रेमवृद्धि है।

वृत्तिः संस्काररूपेण सुप्त्यादावपि वर्त्तते ।
तारतम्यं रसव्यक्तावुद्बोधकभिदाश्रयम् ॥ १९० ॥

सुषुप्ति आदि कालमें भी मोहादि वृत्ति के समान प्रेमवृत्ति भी संस्काररूप से रहती है। उद्बोधक के भेद से वृत्ति की अभिव्यक्तिमें और उससे रसकी अभिव्यक्ति में तारतम्य होता है ॥

लब्ध्वा हि रसमेवायमानन्दीभवतीति च।
श्रुतेरानन्दरसयोः पार्थक्यं च प्रसिद्ध्यति ॥ १९१ ॥

"रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" इस श्रुतिमें रस और आनन्दका पृथक् वर्णन है अतः दोनों में पार्थक्य भी सिद्ध है ॥

न चात्यन्तं प्रभिद्यन्ते सुखज्ञानरसादयः ।

स्वरूपभूताः सर्वेऽपि स्वात्मनः परमात्मनः ॥ १८२ ॥

सुख, ज्ञान एवं रसादि परस्पर अत्यन्त भिन्न नहीं है। ये सभी स्वात्मा और परमात्मा के स्वरूपभूत तत्त्व हैं ॥ १८७॥

नामाद्यैरप्यभिव्यङ्ग्यो नामाद्यात्मा हरिर्हि सः ।

तेन तेषां च भक्तित्वं सर्वं चाग्रे प्रवक्ष्यते ॥ १८३ ॥

नामकीर्त्तनादि से भी नामाद्यात्मक हरि ही अभिव्यङ्ग्य है। वह भी रसरूप है। अतः नामादि भी भक्तिरूप है। ये सारी बातें हम आगे विस्तार से कहेंगे ॥१८८॥

वृत्त्यात्मकं प्रेम शब्दाद्यात्मनामादिकं तथा ।

भवेत्सविषयं तस्मात् सूत्रेऽस्मिन् पदसंगतिः ॥ १८४ ॥

वृत्त्यात्मक प्रेम और शब्दाद्यात्मक नामादि सविषयक होने से सूत्रमें "अस्मिन्" इस पदकी संगति है। या अस्मिन् सूत्रे = इस सूत्रमें पदसंगतिः = त्वस्मिन् पदकी संगति है ॥ १८९ ॥

ज्ञानस्य परमा काष्ठाऽखण्डवृत्तिरुपेयते ।

प्रेम्णश्च परमा काष्ठाऽखण्डप्रेमोपगम्यते ॥ १८५ ॥

ज्ञान की पराकाष्ठा अखण्डाकारवृत्ति है। प्रेम की पराकाष्ठा अखण्ड प्रेमधारा है।

तदेव परमं प्रेम तद्व्यङ्ग्यश्च रसः परः ।
तद्रूपा भक्तिरित्याह देवर्षिर्भगवानिह ॥ १९६ ॥

ॐ

पराकाष्ठागत वही वृत्ति परमप्रेम है उस वृत्तिसे अभिव्यङ्ग्य परम रस भी परमप्रेम है । तद्रूपा भक्ति है यही सूत्रमें देवर्षि कहते हैं ॥ १९१ ॥

इति द्वितीयसूत्रवार्त्तिकम्

ॐ

पुत्रादावपि केषाचित् परमप्रेम दृश्यते ।
पुत्रादिशोकहेतोर्हि म्रियमाणा विलोकिताः ॥ १ ॥
तदेव परमं प्रेम भगवद्गोचरं यदा ।
तदा भक्तिरिति प्राहुः केचिदत्र मनीषिणः ॥ २ ॥

पुत्रादि वियोगमें मरणतक होता है । अतः पुत्रादिमें भी परमप्रेम किसी किसीका होता है । वही परमप्रेम यदि भगवानमें हो तो उसे भक्ति कहते हैं ऐसे कुछ मनीषियोंकी मान्यता है ॥ १–२ ॥

* या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु* ॥ ३ ॥
यत्तद्वयामेकता ह्यत्र प्रीतेर्विस्पष्टमीक्ष्यते ।
अत एव जगुः सन्तः सनिदर्शनलक्षणम् ॥ ४ ॥
अन्ने बुभुक्षोः सलिले पिपासोः कामिनां स्त्रियाम् ।
पत्यौ प्रियायास्तनये मातुश्च प्रेम यद्भवेत् ॥ ५ ॥

सर्वं संभूय हि यदि भगवत्युद्भवेत्तदा ।

तत्प्रेम परमं सा च भक्तिः शास्त्रोपदर्शिता ॥ ६ ॥

जो प्रीति विषयोंमें अविवेकियोंकी होती है वही आपके स्मरणकालमें आपमें मेरे अंदर स्थिर रहे इस श्लोकमें 'जो वही' इन दो पदोंसे विषय प्रीति और भगवत्प्रीति की एकता सूचित होती है। अत एव संतोने कहा है—भूखे को अन्नमें, प्यासे को जलमें, कामी को स्त्रीमें पत्नीको पतिमें, माता को पुत्रमें जो प्रेम होता है सब मिलाकार यदि भगवान् में करे तो वह भक्ति है ॥२-६॥

अत्रोच्यते सतामुक्तिरुपलक्षणमस्तु सा ।

न पुनः सैव सेत्याह भगवानत्र सूत्रकृत् ॥ ७ ॥

इस विषयमें वक्तव्य यही है कि संतोकी उक्ति उपलक्षणात्मक है। न कि विषयप्रीति ही भक्ति है इसमें तात्पर्य। यही बात अब सूत्रकार कहेंगे ॥ ७ ॥

किं चात्र पुरुषार्थत्वं भक्तेर्दर्शयितुं मुनिः ।

नित्यानन्दरसात्मत्वं सूत्रकारोऽनुभाषते ॥ ८ ॥

दूसरी बातः—भक्तिको पुरुषार्थ बताने के लिये नित्यानन्दरसमय कहा जा रहा है ॥ ८ ॥

अमृतस्वरूपा च ॥ ३ ॥

भक्ति अमृतस्वरूप भी है ॥ ३ ॥

चस्त्वर्थे तेन चानित्यप्रेमाभासनिवारणम् ।

न नश्यतीयमानन्दरसमात्रकलेवरा ॥ ९ ॥

अमृत के दो अर्थ है—अविनाशी और आनन्दरसा-

त्मक उससे प्रेमाभास की व्यावृत्ति होती है और भक्तिकी पुरुषार्थरूपता भी सिद्ध होती है ॥ ९ ॥

पुत्रादिषु परं प्रेम लोकैर्भाक्ततयोच्यते ।
न हि पुत्रादिषु प्रेम विच्छेदादिभिरुज्झितम् ॥ १० ॥
प्रतिकूलेषु जातेषु पुत्रादिषु शनैः शनैः ।
अल्पीभवत् क्रमात् प्रेम विच्छिन्नं बहुधेक्ष्यते ॥ ११ ॥

पुत्रादिमें प्रेम का लाक्षणिक प्रयोग है। क्यों कि पुत्रादि प्रतिकूल होने पर प्रेम क्रमशः विच्छिन्न होता देखा गया है। प्रेमका तो विच्छेद नहीं होता ॥ १०-११ ॥

इह जन्मन्यनाशेऽपि जन्मान्तरविनाशिता ।
पूर्वजन्मीयपुत्रादौ क्वास्माकं प्रेम विद्यते ॥ १२ ॥
चित्रकेत्वादिदृष्टान्तैः स्पष्टीकृतमनेकधा ।
श्रीमद्भागवतादौ च प्रेमाभासो हि तत्र तत् ॥ १३ ॥

माना कि इस जन्ममें पुत्रप्रेम नष्ट नहीं हुआ। किन्तु जन्मान्तरमें?। क्या पूर्वजन्म के पुत्रादिमें हमारा प्रेम है? हम उन्हें पहचानते तक नहीं हैं। यही तो श्रीमद्भागवतादिमें चित्रकेतु आदि के दृष्टान्त से समझाया कि पुत्रादि प्रेम प्रेमाभास है ॥ १२-१३ ॥

तथा हि प्रेमतत्त्वं तदवोचामात्मलक्षणम् ।
तस्य च प्रतिबिम्बं स्यात्कामस्नेहादिवृत्तिषु ॥ १४ ॥
कामस्नेहादिवृत्तीनां सात्त्विक्यं तारतम्यतः ।
रजस्तमोऽभिभावेन न्यूनाधिकमवेक्ष्यते ॥ १५ ॥

प्रेम्णस्तासु भवेन्न्यूनं स्पष्टमस्पष्टमेव च ।

प्रतिबिम्बं ततो गेहपुत्राद्याकर्षणं मतम् ॥ १६ ॥

यह बात पहले कही जा चुकी है कि प्रेम आत्माका ही एक स्वरूप है । उसका काम स्नेह आदि वृत्तिमें प्रतिबिम्ब पडता है। उन वृत्तियोंमें रजोगुण और तमोगुण के न्यूनाधिक अभिभाव से न्यूनाधिक सात्त्विकता देखनेमें आती है अत एव प्रेमका कहीं स्पष्ट और कहीं अस्पष्ट प्रतिबिम्ब होता है । जिससे पुत्रदारादिके प्रति आकर्षण होता है ॥

वृत्तिष्वासु ससूक्ष्मासु नष्टासु लुठितासु वा ।

प्रतिबिम्बाभावहेतोर्नष्टं प्रेमेत्युदीर्यते ॥ १७ ॥

उपाधिनाशनाशित्वं प्रतिबिम्बस्य युज्यते ।

बिम्बवत् प्रतिबिम्बस्य व्यवहारस्तु भक्तितः ॥ १८ ॥

ये वृत्तियां वासनासहित लुप्त हो जाए, या अन्यसे अभिभूत हो जाए तो उपाधि के अभाव से प्रतिबिम्ब नहीं रहता तो प्रेम नष्ट हो गया ऐसा बोलते हैं । प्रतिबिम्बमें प्रेम व्यवहार तो औपचारिक है ॥ १७-१८ ॥

किन्तु वास्तविकं तत्त्वं बिम्बमेव न संशयः ।

प्रेमाभासास्ततः प्रोक्ताः स्नेहमोहादयो बुधैः ॥ १९ ॥

वास्तविक तत्त्व तो बिम्ब ही होता है इसमें संशय नहीं है । अत एव तत्त्ववेत्ताओंने स्नेहमोहादिको प्रेमाभास बताया ॥ १९ ॥

तच्चावृतं भगवतः सदसद्रूपमायया ।

परं प्रेम, ततो नैव लोकैस्तदनुभूयते ॥ २० ॥

वह परमप्रेम भगवानकी सदसद्रूप माया से ढका है अतः सबको अनुभव नहीं होता ॥ २० ॥

नन्वावृतं यदि प्रेम प्रतिबिम्बं कथं भवेत् ।
नह्यावृतस्य सूर्यादेः प्रतिबिम्बमवेक्ष्यते ॥ २१ ॥
नैवमावृतमप्येव ब्रह्म ज्ञानादिवृत्तिषु ।
यथा प्रतिफलेत्तद्वत् प्रेम कामादिवृत्तिषु ॥ २२ ॥
न सर्वथा समाच्छन्नं ब्रह्मवत् प्रेम चामलम् ।
राहुग्रस्तोऽपि राहुं च जगच्चार्कः प्रकाशयेत् ॥ २३ ॥

प्रेम यदि आवृत है तो उसका प्रतिबिम्ब कैसा पडेगा? उत्तर यह कि आवृतब्रह्मका भी प्रतिबिम्ब वेदान्त में माना है। ब्रह्म के समान ही प्रेम भी सर्वथा आवृत नहीं है। राहुग्रस्त सूर्य राहुको भी प्रकाशित करता हैं जगत को भी ॥ २१-२३ ॥

ग्रस्तसूर्यमधोवक्त्रो न दृश्यमपि पश्यति ।
न वा तत्प्रतिबिम्बं चापरत्र सलिलादितः ॥ २४ ॥
विषयाभिमुखश्चैवं नावृतं प्रेम वीक्षते ।
नान्यत्र प्रतिबिम्बं च किन्तु कामादिवृत्तिषु ॥ २५ ॥

दृश्य होने पर भी ग्रस्तसूर्य को नीचे मुख करके नहीं देख सकते। और पानी दर्पण आदिको छोडकर उसका प्रतिबिम्ब भी नहीं देख सकते। इसी प्रकार विषयाभिमुख (विषयरत) पुरुष भी आवृत प्रेमको नहीं देख पाता। और उसका प्रतिबिम्ब भी कामादिवृत्तिको छोडकर अन्यत्र नहीं देखता ॥ २४-२५ ॥

यदृच्छयोद्गतश्रद्धो भवन् भगवदुन्मुखः ।
आवृतं पश्यति प्रेम प्रथमा भूमिका तु सा ॥ २६ ॥

यदृच्छया श्रद्धा उत्पन्न होने पर मनुष्य भगवदुन्मुख हो जाता है, तब उसको प्रथम आवृतप्रेम की अनुभूति होती है । यही प्रेमकी पहली भूमिका है ॥ २६ ॥

समेधमानया प्रेमवृत्त्या चावरणं क्रमात् ।
दृढमप्येति शैथिल्यं घनीभूतघनोपमम् ॥ २७ ॥
ईषत्तदा पुमान् प्रेम्णः स्वरूपं रसतुन्दिलम् ।
शिथिलीभूतमेघान्तर्ज्योतिष्मन्तमिवेक्षते ॥ २८ ॥

प्रेमवृत्ति उत्तरोत्तर बढने लगती है तो घने बादल के समान दृढ भी आवरण क्रमशः ढीला हो जाता है । तब शिथिल मेघके अंदर से सूर्य के समान रसपरिपूर्ण प्रेम का स्वरूप थोडा थोडा देखने लगते हैं ॥ २७-२८ ॥

अनानन्दापादकं चावरणं केचिदूचिरे ।
यथा तथैव ह्यरसापादकावरणं मतम् ॥ २९ ॥
भोगवृत्तेस्तारतम्यात् तारतम्यं सुखे यथा ।
प्रेमवृत्तेस्तारतम्याद् रसव्यक्तौ च तत्तथा ॥ ३० ॥

असत्त्वापादक और अभानापादक के समान तुल्ययुक्त्या अनानन्दापादक आवरण भी कुछ आचार्य मानते हैं । तुल्ययुक्त्या अरसापादक आवरण भी भक्तिशास्त्रमें अभिमत है । भोगवृत्ति के तारतम्य से सुखमें न्यूनाधिकता होती है उसी प्रकार प्रेमवृत्ति के तारतम्य से रसाभिव्यक्तिमें भी तारतम्य होता है ॥ २९-३० ॥

न च वाच्यं पुनर्जाते विषयाभिमुखे नरे ।
नष्टं प्रेमेत्यपि नृणां प्रथेति तदसंभवात् ॥ ३१ ॥

क्या फिर से मनुष्य विषयाभिमुख हो जाए तो प्रेम नष्ट हो गया ऐसा भी व्यवहार होगा या नहीं? उत्तर है कि प्रेम नाश असंभव है ॥ ३१ ॥

* यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे ।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः* ॥३२॥

* मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः ।
मयात्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद्विषयात्मनाम्* ॥३३॥

इत्येवं हरिभक्त्याख्यं प्रेमबिम्बमुपेयुषाम् ।
विषयाभिमुखीभावासंभवः संप्रदर्शितः ॥ ३४ ॥

* मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते* ।
इत्युक्तेः प्रविलीनस्य पुनरावृत्त्यसंभवात् ॥ ३५ ॥

हरिभक्ति होने पर कौन क्षुद्र विषय चाहेगा?। अमृत सागरमें खेलनेवाले को गड्ढेके पानी से भी मतलब?। भगवद्भक्त को जो सुख है वह विषयी को कहाँ से मिले? इत्यादि वचनों से स्पष्ट है कि बिम्बात्मक प्रेम होने पर विषयाभिमुख नहीं हो सकता। "मेरा स्मरण करनेवाले का चित्त मुझमें लीन हो जाता है।" विलीनकी पुनरावृत्ति कैसे? ॥ ३२-३५ ॥

अत्रौत्सुक्यप्रभृतयो भूमयो बहुधा मताः ।
उत्तमाधमभावेन ह्युपाधीनां प्रभेदतः ॥ ३६ ॥

प्रेमाभिव्यक्तितारतम्य को लेकर औत्सुक्यादि अनेक भूमिकायें होती है। (दिव्यरसतरङ्गिणी नामक ग्रन्थमें हमने इक्कीस मुख्यभेदों को बताया है और उसके भी अवान्तर अनन्त भेद हैं) परंतु उपाधिभेद से ही भूमिका भेद है॥

न्यूनाधिकविधः सूर्यो भासतां नाम वार्मुचि।
भासमानस्तु नित्योऽयमेकः प्रेमापि तद्विधम् ॥ ३७ ॥

बादलोंमें न्यूनाधिक भावसे सूर्यका भले ही भान हो परंतु भासमान सूर्य तो नित्य है एक है। वैसे ही प्रेम भी नानाविध होने पर भी नित्य और एक है ॥३७॥

नित्या च परमानन्दरससंहननापि च।
भक्तिर्यतस्तदमृतस्वरूपा चेत्युदीर्यते ॥ ३८ ॥

अमृतका न+मृत नित्य एक अर्थ है। 'अमृतं क्षीर-भोजनं! इत्यादिमें रसस्वरूप भी अर्थ है वह दोनों यहाँ विवक्षित है इसलिये भक्तिको 'अमृतस्वरूपा' कहा॥

ननु स्वर्गभवे मुख्योऽमृतशब्दोऽमृते मतः।
न चाविनाशि स, स्वर्गात् पुनरावृत्तिकीर्त्तनात् ॥३९॥
यच्चामृतं चान्द्रमसमोषधीनां प्रपोषकम्।
तद्युक्ता ओषधीर्भुक्त्वा म्रियन्ते सकला जनाः ॥ ४० ॥

शंकाः--अमृत तो मुख्यतया स्वर्गवाले अमृत को कहते हैं। वह तो अनित्य है। उसे पीकर भी पुनरावृत्ति होती है। चन्द्रमाका अमृत भी प्रसिद्ध है। शरत् पूर्णिमासें ओषधियोंमें वह पडता है। किन्तु उसे खाकर भी लोग मरते हैं ॥ ३९-४० ॥

अत्राहामृतशब्दस्य मुख्या वृत्तिर्न चोभयोः ।
वेदेष्वमृतशब्दस्य मोक्षे मुख्यप्रयोगतः ॥ ४१ ॥
नित्यानन्दरसात्मत्वं मोक्षस्याखिलसंमतम् ।
आभूतसंप्लवस्थानादिषु गौणं ततोऽमृतम् ॥ ४२ ॥

समाधानः—अमृत शब्दका मुख्यार्थ उक्त दोनों ही नहीं है। वेदोंमें मोक्ष को ही अमृत कहा है और वह तो नित्य आनन्द रसरूप है यह सर्व संमत है ॥४१-४२॥

नन्वेवं मोक्षरूपत्वे शास्त्रान्तरमिदं वृथा ।
ज्ञानादेव हि कैवल्यमिति शास्त्रेषु डिण्डिमात् ॥ ४३ ॥

पूर्वपक्षः—तब तो अमृतस्वरूपा कहने से भक्ति मोक्षरूप सिद्ध हुई। मोक्ष तो ज्ञान से होता है। तदर्थ शारीरक मीमांसा शास्त्र तो है ही यह भक्तिशास्त्र वृथा है॥

अत्राहुरन्यशास्त्रोक्तान्मोक्षाद् भक्तिः पृथङ् मता ।
भक्तिर्हि प्रेमरूपेयं न मोक्षः प्रेमलक्षणः ॥ ४४ ॥

यहाँ आचार्योंका उत्तरः—अन्य शास्त्रोक्त मोक्ष से भक्ति अलग है। क्यों कि भक्ति प्रेमस्वरूप है। मोक्ष तो प्रेमस्वरूप नहीं माना गया है ॥ ४४ ॥

आह्लादिनी हरेः शक्तिः प्रेम तत्त्वान्तरं हि वा ।
तद्वशो भगवान् साक्षान्न तु मोक्षवशो हरिः ॥ ४५ ॥
मुक्ति ददाम्यहं नृभ्यो भक्तियोगं न कर्हिचित् ।
इति प्रसिद्धमुक्तेर्हि भक्तिरन्यैव निश्चिता ॥ ४६ ॥
* अहैतुक्यप्रतिहता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ॥ ४७ ॥

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः* ।
इत्यादावपि भक्तिर्हि मुक्तेः पृथगुदीरिता ॥ ४८ ॥

भगवानकी आह्लादिनी शक्ति प्रेम हो या अन्य विलक्षण तत्त्व ही प्रेम हो, इतना तो निश्चित है कि भगवान उस प्रेम के वशमें होते हैं। भगवान मोक्ष के वशमें ऐसा कहीं नहीं सुना। मैं मुक्ति देता हूँ भक्ति नहीं। और भक्त भी मेरे दिये हुए सा लोक्यादि मुक्तिको ग्रहण नहीं करते किन्तु मेरी सेवा ही पसंद करते हैं इत्यादि वचनोंमें भक्ति मुक्ति से पृथक् ही कही गयी है ॥ ४८ ॥

भक्तिश्च मुक्तिशब्देन स्कान्दादौ यद्यपीरिता ।
शास्त्रान्तरीयमुक्तेर्हि तथाप्येषा पृथङ्मता ॥ ४९ ॥

यद्यपि (पूर्वप्रदर्शित) स्कान्दादि वचनमें भक्ति को ही मुक्ति बताया है। तथापि शास्त्रान्तरप्रसिद्ध मुक्ति से भक्ति भिन्न ही है ॥ ४९ ॥

अतोऽमृतस्वरूपा च प्रेमरूपेति च द्वयम् ।
लोकप्रसिद्धयोः प्रेममुक्त्योर्व्यावृत्तये स्थितम् ॥ ५० ॥
लौकिकं नामृतं प्रेम मुक्तिर्न प्रेमलक्षणा ।
भक्तिस्तु प्रेमरूपा चामृतरूपा च पावनी ॥ ५१ ॥

इस लिये लोक प्रसिद्ध प्रेम की व्यावृत्ति के लिये अमृतस्वरूप कहा और शास्त्रान्तरप्रसिद्ध मुक्ति की व्यावृत्ति के लिये प्रेम स्वरूपा कहा ॥ ५०-५१ ॥

यदि च प्रेमरूपो हि हरिर्न तु ततः पृथक् ।
भक्त्यधीनत्वगीर्भक्त्या क्षिमलभ्यत्वतत्परा ॥ ५२ ॥

परमा या च मुक्तिः सा न भक्तेरतिरिच्यते ।
लोकप्रेम्णि परप्रेमशब्दो भाक्ततया स्थितः ॥ ५३ ॥
अमृतत्वं च सालोक्यसार्ष्ट्यादावौपचारिकम् ।
इत्युच्यते तदात्रोक्तं सूत्राभ्यां लक्षणद्वयम् ॥ ५४ ॥

यदि यह समन्वय सिद्धान्त माना जाए कि हरि ही स्वयं प्रेमरूप है । भक्ति के अधीन हरिको इसलिये कहा कि साधन भक्त्यादि से शीघ्रलभ्य है । परममुक्ति और परमभक्तिमें कोई भेद नहीं है । लौकिक प्रेममें परमप्रेम शब्द औपचारिक है सालोक्यादि मुक्तिमें अमृतत्व भी औपचारिक ही है, तो इन दो सूत्रोंमें पृथक् पृथक् दो लक्षण ही हैं ॥ ५२–५४ ॥

किं च भाक्तपरप्रेमभ्रान्तिहन्त्र्यमृतत्वगीः ।
भाक्तामृतभ्रमभ्रंशी परमप्रेमवागपि ॥ ५५ ॥

परस्परार्थ व्यावर्त्तकत्व भी संभव है । औपचारिक परमप्रेम की भ्रान्ति न हो एतदर्थ अमृतत्व वचन और औपचारिक अमृतत्वभ्रमवारण के लिये परमप्रेम कथन है ऐसा भी व्याख्यान संभव है ॥ ५५ ॥

केचित्तु लक्षणं पूर्वं बहिरङ्गमुदीरितम् ।
पृथुबुध्नोदरादित्वं यथा कलशलक्षणम् ॥ ५६ ॥
अन्तरङ्गमिदं त्वाहामृतरूपेति लक्षणम् ।
मृद्रूपत्वं यथा लोके कलशस्य स्वलक्षणम् ॥ ५७ ॥

कुछ लोगोंका कहना है कि सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा यह भक्तिका बहिरंग लक्षण है जैसें सिकुडा गला चौड़ा

पेटवाला घट है ऐसा घडेका लक्षण। अमृतस्वरूप यह अंतरंग लक्षण है जैसे घट मृद्रूप है ॥५६-५८॥

तन्नामृतस्वरूपत्वं प्रेम्णो न स्याद्भवन्मते।
पृथुबुध्नोदराकारो मृद्रूपो नेष्यते यथा ॥ ५८ ॥

परंतु यह मत ठीक नहीं है। परमप्रेम यदि भक्तिका बहिरङ्ग लक्षण है तो प्रेम अमृत स्वरूप नहीं होगा। जैसे पृथुबुध्नोदराकार (गला पतला पेट चौडा इत्यादि पहले कहा गया आकार) मिट्टी स्वरूप नहीं है ॥ ५८ ॥

तदाकारोऽस्ति सौवर्णे घटे नास्ति मृदात्मता।
तथैव परमप्रेम्णो न हि स्यादमृतात्मता ॥ ५९ ॥

सुवर्णघटमें उक्त पृथुबुध्नोदराकार है किन्तु मृद्रूपता नहीं है। वैसे बहिरङ्ग परमप्रेममें भी अमृतस्वरूपता नहीं होगी ॥ ५९ ॥

प्रेम्णः स्वरूपममृतं भक्तिश्च प्रेमरूपिणी।
अतोऽमृतस्वरूपा सा चो ह्यर्थ इति कश्चन ॥ ६० ॥
तन्न प्रेम्णोऽमृतात्मत्वं सिद्धं चेत् सिद्धमेव हि।
प्रेमस्वरूपतोक्त्यैव भक्तेस्तत् किं पृथग्गिरा ॥ ६१ ॥

अन्य व्याख्याः--प्रेम अमृतरूप है अतः भक्ति भी अमृतरूप है ऐसा सूत्रद्वयका अर्थ है. परंतु प्रेम की अमृतरूपता यदि प्रथम सिद्ध हो तो प्रेमरूपता कहने से ही अमृतरूपता आ गयी। पुनः कथन व्यर्थ होगा। अमृतत्वमें प्रेमत्वव्यापकताका अनुसंधानकर उससे अमृतत्वका अनुमान करना आदि तार्किकोंकी रीति यहाँ अनुपादेय है। अमृतस्वरूपा इस शब्द से ही अर्थबोध हो सकता है। व्याप्त्यनुसंन्धान व्यर्थ क्लेश है ॥ ६१ ॥

एतेनामृतरूपत्वात्प्रेमरूपत्वमित्यपि ।
अनैकान्त्यादप्रसिद्धेर्गौरवाच्च पराहतम् ॥ ६२ ॥

अमृतस्वरूप होने से प्रेमरूप है ऐसी व्याख्या भी इससे निरस्त हो जाती है। क्यों कि मोक्ष अमृत है किन्तु प्रेमरुप नहीं, इस लिये हेतु अनैकान्तिक है। प्रेम अमृतस्वरूप है यह पूर्वसिद्ध भी नहीं है। सब की उपपत्ति यथा कथंचित् कर भी लें तो भी इतने सब करनेमें भारी मेहनत गौरवदोष भी आता है ॥ ६२ ॥

यत्त्वत्र ननु भक्तिर्हि प्रेमरूपा न युज्यते ।
तदभावेऽपि भक्तित्वं कीर्त्तनादेरुदीरितम् ॥ ६३ ॥
इत्याशङ्कामपाकर्त्तुं हेतुमाहामृतात्मताम् ।
प्रसिद्धामृतता भक्तेः कीर्त्तनादिर्न सा ततः ॥ ६४ ॥
भक्तिसाधनरूपत्वाद् भक्तित्वं भाक्तमिष्यते ।
गायन्ति तत्साधनानीत्यग्रे तत्स्पष्टयिष्यते ॥ ६५ ॥

यहाँ कुछ लोग ऐसी भी व्याख्या करते है कि–भक्ति प्रेमस्वरूप कैसे? कीर्त्तनादि भक्ति तो शब्दादिरूप है इस आशंका को दूर करने के लिये अमृतस्वरूपा कहा शास्त्रों में भक्ति अमृतस्वरूप प्रसिद्ध है अतः प्रेमरूप ही भक्ति है। कीर्त्तनादि तो अमृतस्वरूप नहीं है और भक्ति भी नहीं है। भक्ति के साधन हैं इसलिये उन्हें औपचारिक रूपसे भक्ति कह देते हैं। आगे स्वयं नारदजी भी तस्याः साधनानि गायन्ति इत्यादि सूत्रोंमें कीर्त्तनादिको भक्ति के साधन ही बताएंगे। भक्ति के साधन यह शब्द ही बताता है कि भक्ति अलग है साधन अलग हैं ॥ ६३–६५ ॥

तन्नानुमेनिरे भक्तास्ते तु लीलादिवद्बुधैः।
नित्यत्वरसरूपत्वे कीर्त्तनादेश्च मन्वते॥ ६६॥

परंतु उक्त मतों को भक्तलोग स्वीकार नहीं करते। वे तो कीर्त्तनादिको भी नित्य एवं रसरूप मानते हैं। अतः वे भी भक्ति ही हैं॥ ६६॥

प्रेमात्मिका मनोवृत्तिर्यद्यप्येव विनश्यति।
तथापि तदभिव्यक्तं प्रेम नैव विनश्यति॥ ६७॥
एवमिन्द्रियवृत्त्यात्मा कीर्त्तनादिर्विनश्यतु।
तथापि तदभिव्यक्तं तत्त्वं नैव विनश्यति॥ ६८॥

प्रेमात्मक मनोवृत्ति ज्ञानवृत्ति के समान भले नष्ट हो तथापि तदभिव्यक्त प्रेमतत्त्व ब्रह्मतत्त्व के समान नष्ट नहीं होता। वैसे ही इन्द्रियवृत्तिरूपी कीर्त्तनादि भले नष्ट हो किन्तु तदभिव्यक्त तत्त्व नष्ट नहीं होता॥ ६७-६८॥

नन्वभिव्यज्यते किं तत् तत्त्वं संकीर्त्तनादिभिः।
एकमेवोत नाना तन्नानात्वे नित्यता कथम्॥ ६९॥
एकमेवाद्वितीयं सत् नेह नानास्ति किंचन।
मर्त्यं यदल्पमित्यादिश्रुतिभिर्भेदबाधनात्॥ ७०॥
एकत्वे कीर्त्तनादीनां नित्यत्वमिति वाङ्मृषा।
प्रकारान्तरतः प्रेमनित्यत्वं साधितं यतः॥ ७१॥

पूर्वपक्षः—प्रेमवृत्ति से प्रेमतत्त्व अभिव्यक्त होता है किन्तु कीर्त्तनादि से कौन सा तत्त्व अभिव्यक्त होता है? यदि वह प्रेमतत्त्व से भिन्न है तो श्रुति भेद निषेध करती है और भिन्न को अल्प कहकर नाशवान् कहती है तब

वह नित्य कैसे? यदि कहो प्रेमतत्त्व से भिन्न नहीं है, तो प्रकारान्तर से प्रेमतत्त्व को ही आपने नित्य सिद्ध किया, न कि कीर्त्तनादिको ॥ ६९-७१ ॥

अत्रोच्यते प्रेमवार्धौ नामरूपादिकं हरेः।
प्रतितिष्ठति तद्धयेव व्यज्यते कीर्त्तनादिभिः ॥ ७२ ॥
न च श्रुतिविरोधः स्यात् श्रुतिर्हि व्यावहारिकम्।
अपाकरोति नानात्वं न तु दिव्यं कदाचन ॥ ७३ ॥

सिद्धान्तः—हरि के नामरूपादि प्रेमसागरमें प्रतिष्ठित हैं। वे ही कीर्त्तनादि से अभिव्यक्त होते हैं। श्रुति व्यावहारिक नानात्वका निषेध करती है। दिव्य नानात्वका नहीं।

शब्दादिभिरभिव्यङ्ग्यं नानात्वं व्यावहारिकम्।
शब्दाद्यैरनभिव्यङ्ग्यं नानात्वं दिव्यमुच्यते ॥ ७४ ॥
लोकसिद्धमनूद्यैतन्नानात्वं श्रुतिरीश्वरी।
निषेधति किलाशेषानर्थव्रातनिवृत्तये ॥ ७५ ॥

शब्द एवं प्रत्यक्षादि से जो अभिव्यक्त होता है उसे व्यावहारिक कहते हैं। उनसे अभिव्यक्त जो न हो वह दिव्यनानात्व है। लोक सिद्ध व्यावहारिक नानात्वका अनुवाद कर सर्वानर्थनिवृत्त्यर्थ श्रुति उसका निषेध करती है ॥ ७४-७५ ॥

मायया कल्पयन् विश्वं सृजत्यवति हन्ति च।
हरिस्तेन जगत् सर्वं दृश्यमेतन्मृषात्मकम् ॥ ७६ ॥

परमेश्वर माया से जगत् की सृष्टि स्थिति संहार करते हैं अतः दृश्य जगत् मायाकल्पित होने से मिथ्या है।

वाचामगोचरं तत्त्वं नामधामादि यद्धरेः ।
तन्मिथ्यात्वं कथंकारं वचसा क्रमितुं क्षमम् ॥ ७७ ॥

हरिका नाम धामादि वाणीका अविषय है । उसको वाणीका विषय बनाकर मिथ्या कहना कैसे संभव है ॥७७॥

एकानेकपृथग्भिन्नशब्दार्था व्यावहारिकाः ।
आस्तां तेषां मृषात्वं तु न तस्मिन् विवदामहे ॥ ७८ ॥
नामधामादिनानात्वं परं दिव्यं स्वयंप्रभम् ।
अवाङ्मनसगं मिथ्या वक्तुं नैवोत्सहामहे ॥ ७९ ॥

एक अनेक पृथक् भिन्न इत्यादि शब्दोंका अर्थ व्यावहारिक है उनके मिथ्यात्वमें विवाद नहीं है । परमदिव्य स्वप्रकाश मनवाणी का अविषय नामधामादिनानात्व को मिथ्या हम नहीं कह सकते ॥ ७८-७९ ॥

अवाङ्मनसगम्यं चेद् ब्रूषे चिन्तयसे कथम् ।
ब्रह्म वाङ्मनसागम्यं ब्रूषे चिन्तयसे यथा ॥ ९० ॥
अतद्व्यावृत्तिरूपेण ब्रह्म चेदभिधीयते ।
अतद्व्यावृत्तिरूपेण प्रेम चाप्यभिधीयते ॥ ९१ ॥

वाणी मनका अविषय भी मानते हैं और नामधामादि नानात्व बोलते और सोचते भी जा रहे हैं यह कैसे ? जैसे ब्रह्म । ब्रह्मको अतद्व्यावृत्तिसे कहा और जाना जाता है तो वैसे प्रेमतत्वको भी कहो और जानो ॥ ९०-९१ ॥

भगवत्पादसिद्धान्तमूरीकृत्यापि सर्वशः ।
श्रीधरस्वामिनः प्राहुर्हरेर्धामादिनित्यताम् ॥ ८२ ॥

आचार्यानुरीचक्रुर्गौराङ्गचरणा अपि ।
श्रीधरस्वामिनां व्याख्यामपि तेऽनुबभाषिरे ॥ ८३ ॥

भगवान शंकराचार्यका सिद्धान्त पूर्णतया स्वीकार करते हुए भी श्री श्रीधरस्वामीने भगवान के धामादिकी नित्यता मानी। गौराङ्ग महाप्रभुने भी भगवत्पादको आचार्य माना और श्रीधरस्वामीके अनुसार ही भक्ति निरूपण किया॥

* अहं वेद्मि शुको वेत्ति व्यासो वेत्ति च नारदः ।
श्रीधरः सकलं वेत्ति श्रीनृसिंहप्रसादतः* ॥ ८४ ॥
इतीशविश्वनाथोक्तेः श्रीधरोक्तौ न विभ्रमः ।
तस्माद्धामादिनित्यत्वं दिव्यमेव व्यवस्थितम् ॥ ८५ ॥

श्री काशीविश्वनाथ भगवान की उक्ति है। मैं जानता हूं शुकदेव जानते हैं व्यास और नारद जानते हैं और नृसिंह भगवान के प्रसाद से श्रीधरस्वामी सब कुछ जानते हैं। अतः श्रीधरोक्तिमें भ्रांति नहीं है और नाम-धामादि दिव्य है नित्य ही है ॥ ८४-८५ ॥

ब्रह्माण्डमध्ये धामादि कल्पयन्तस्तु केचन ।
भ्रान्ता एव यतः सर्वं ब्रह्माण्डं दृश्यमप्रथम् ॥ ८६ ॥
व्यापकत्वं कथंकारमेकदेशप्रवर्त्तिनः ।
अव्यापकस्य मिथ्यात्वं दुर्निवारं हि मन्महे ॥ ८७ ॥

कुछ लोग ब्रह्माण्ड के मध्यमें धामादि मानते हैं? वे भ्रान्त हैं। क्यों कि स्वयं ब्रह्माण्ड दृश्य है मिथ्या है उसके एकदेशमें-मध्यमें रहनेवाला धामादि अव्यापक होने से मिथ्या हो जाएगा ॥ ८६-८७ ॥

धामलीलादिकं साक्षात्कुर्वन्ति भगवज्जनाः ।

नानास्थानेषु युगपत् तन्नित्यं व्यापकं च तत् ॥ ८८ ॥

एक ही समयमें नानास्थानोंमें भिन्न भिन्न भक्त भावसमाधिमें भगवान के धाम लीला आदिका साक्षात्कार करते हैं । वह भ्रम नहीं है । उस उस स्थानमें धामादि आए कैसे ? अत एव धामादि नित्य और व्यापक हैं । लीलाकी भी नित्यता इसीसे सिद्ध होती है । लीलाका भी प्रत्यक्ष अधुना भी होता है । लीला यदि अनित्य अव्यापक होती तो आज नाना देशमें कैसे प्रत्यक्ष होती ? ।

नन्वेवं भगवत्पादाः कस्मान्नामादिनित्यताम् ।

नाब्रुवन्निति चेन्मैवं त्वया भाष्यानवेक्षणात् ॥ ८९ ॥

ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिरद्भुतैः ।

सदैव स च सम्पन्नो भगवानिति भाष्यकृत् ॥ ९० ॥

गीताभाष्ये स्फुटं प्राह तत्र ज्ञानाद्यनेकता ।

सदेति नित्यता चापि निरुक्ता पारमार्थिकी ॥ ९१ ॥

यदि श्रीधरस्वामीने भगवत्पादसिद्धान्त को स्वीकार किया है तो भगवत्पाद शंकराचार्यने नामधामादिकी नित्यता क्यों नहीं कही ? इसका उत्तर है कि आपने भाष्य ही नहीं देखा । 'स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा संपन्नः" ऐसे गीता के उपोद्घात भाष्यमें ज्ञानादि भेद और उसकी नित्यता पारमार्थिक बतायी है । (ऐश्वर्य के अन्तर्गत नाम धामादि हैं) ॥ ८९-९१ ॥

व्यावहारिकदृष्ट्यैव ज्ञानैश्वर्यादिकं तथा ।

प्राहेति युक्तं नो वक्तुमग्रिमोक्तिविरोधतः ॥ ९२ ॥

ज्ञानादिमन्तमुद्दिश्य देहवानिव मायया ।
इति मायाप्रयोज्यत्वं देहवत्त्वादिषूदितम् ॥ ९३ ॥
तत्र मायाप्रयोज्यत्वमुद्देश्यान्तर्गतेषु हि ।
ज्ञानैश्वर्यप्रभृतिषु कथंचिन्न प्रतीयते ॥ ९४ ॥

भाष्यकार व्यावहारिक दृष्टिसे भगवानमें ज्ञानैश्वर्यादि कह रहे हैं वस्तुतः नहीं इस प्रकार कहना उचित नहीं। कारण अग्रिम भाष्यसे विरोध होगा। भाष्य इस प्रकार हैः—"स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलनवीर्यतेजोभिः सदा संपन्नः...मायया देहवानिव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् लक्ष्यते"। यहां ज्ञानादिमान् को उद्देश्य रखकर मायासे देहवान् वताया। इससे मायाप्रयोज्यत्व देहवत्त्वमें ही सिद्ध होता है उद्देश्यान्तर्गत ज्ञानैश्वर्यादिमें नहीं ॥ ९२

ननु धामादिवन्नित्यो दिव्यो देहोऽप्यमायिकः ।
सत्यं, लौकिकधीलक्ष्यदेहतात्पर्यतस्त्विदम् ॥ ९५ ॥
* कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया* ॥ ९६ ॥
इति भागवतोक्तिश्च लोकलक्ष्यतनूपरा ।
अतो हि लक्ष्यत इति भाष्यकृद्भिरपीरितम् ॥ ९७ ॥

शंका होगी कि यदि धामादि नित्य है तो भगवान का देह क्यों मायिक होने लगा? बात यथार्थ है। देह भी नित्य है परंतु साधारण लोग जिस देह को देख रहे थे उस को मायिक वताया। यह "कृष्णमेनमवेहि" इस भागवत श्लोक में स्पष्ट है। अत एव भाष्य में भी 'लक्ष्यते' कहा ॥ ९८-९९ ॥

ननु दिव्यो ह्ययं भेदः कीदृगित्युपवर्ण्यताम् ।
भेदेऽपि यदि भेदः स्यादनवस्था दुरुद्धरा ॥ ९८ ॥
मैवं विज्ञानमानन्दमित्यादिश्रुत्युदीरिताः ।
ज्ञानानन्दादयो यद्वद् भिन्नास्तद्वदिहेष्यताम् ॥ ९९ ॥

यह दिव्यभेद कैसा है? भेद में भी अगर भेद है तो अनवस्था निश्चित है। उत्तर यह कि सत्य, ज्ञान, आनन्दादि वेदान्त मतमें भिन्न पदार्थ जैसे वैसे यहां भी है।

ननु व्यावर्त्यभेदो हि ज्ञानादीनां न तु स्वतः ।
मैवं व्यावर्त्तकाऽभेदे कथं व्यावर्त्यभिन्नता ॥ १०० ॥

असत्, अज्ञान और दुःख ये व्यावर्त्य भिन्न हैं सत्य ज्ञान आनन्द स्वतः भिन्न नहीं ऐसा कहना भी नहीं बनता। व्यावर्त्तक एक हो तो व्यावर्त्य भिन्न कैसे?

ननु बौद्धी ज्ञानवृत्तिर्लौकिकं ज्ञानमिष्यते ।
ज्ञानं वास्तविकं चात्मा विशिष्टे पदवाच्यता ॥ १०१ ॥
आनन्दो लौकिको बौद्धी भोगवृत्तिरुपेयते ।
आत्मा वास्तविकानन्दो विशिष्टे पदवाच्यता ॥ १०२ ॥
इत्थं च वाच्यभेदेन पदजातं प्रवर्त्तते ।
लक्ष्यार्थो भिद्यते नात्र भागत्यागेन शेषितः ॥ १०३ ॥

पूर्वपक्षः—ज्ञानात्मक चित्तवृत्ति लौकिक ज्ञान है। और ब्रह्म वास्तविक ज्ञान। उभयविशिष्ट ज्ञानपद का वाच्यार्थ है। भोगवृत्ति लौकिक आनन्द है। ब्रह्म वास्तविक आनन्द है। विशिष्ट आनन्दपद का वाच्यार्थ है। वाच्यभेद से पद भिन्न है। भागत्यागसे लक्ष्यार्थ ब्रह्म एक ही है॥

सत्यं, लौकिकनामादि शब्दाद्यात्मकमीरितम् ।
परमार्थं त्वात्मरूपं विशिष्टे पदवाच्यता ॥ १०४ ॥
शब्दादिकपरित्यागे तत्तद्व्यङ्ग्यं परं पदम् ।
दिव्यं नामाद्यात्मरूपमित्यप्यद्धा कथं न ते ॥ १०५ ॥
सत्यज्ञानादयो यद्वदपरिच्छिन्नरूपिणः ।
हरेर्नामादयश्चैवमपरिच्छिन्नरूपिणः ॥ १०६ ॥

उत्तर:—उसी प्रकार लौकिक नाम धामादि शब्द एवं देशविशेषादि रूप है। परमार्थ नामादि परमात्मस्वरूप है। विशिष्ट में पदवाच्यता है। शब्दादि के लौकिकांश भाग त्याग से अभिव्यंग्य दिव्यतत्त्व शेष रहता है। ऐसा भी मानने में आप को क्या हर्ज है?। सत्य ज्ञानादि के समान धामादि भी अपरिच्छिन्न हैं ॥ १०४-१०६ ॥

किं च वाङ्मनसागम्ये तर्कोऽयं भवतो वृथा ।
सहायीकृत्य शास्त्राणि भक्त्या तदनुभूयताम् ॥ १०७ ॥
* अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्* ।
तथा च भेदवादोऽपि वृथा मतिकदर्थना ॥ १०८ ॥

दूसरी बात:—वाणी और मनके अविषय में तर्क करना व्यर्थ है। शास्त्रकी सहायता से भक्ति के द्वारा उसे अनुभव करना ही उचित है। शास्त्राज्ञा भी यही है कि अचिन्त्य भावोंको तर्कके साथ मत जोडो। अत एव द्वैत-वादियों का भेद वाद भी व्यर्थ की माथाकूटी है ॥ १०७

अचिन्त्यभेदाभेदादि नैव मन्यामहे वयम् ।
अचिन्त्योक्त्या गतार्थत्वाच्छेषोक्तेरप्रयोजनात् ॥ १०९ ॥

अचिन्त्याः खलु ये भावा इति भावोक्तिराञ्जसी ।
भेदाभेदादिशब्दस्तु वादमात्रप्रयोजनः ॥ ११० ॥
अचिन्त्य एव सन् कस्माद् भेदाभेदेन चिन्त्यते ।
न चिन्त्यते चेत्सुगमो भावशब्दः प्रयुज्यताम् ॥ १११ ॥

अचिन्त्य भेदाभेद पक्ष मत है। जब अचिन्त्य है तब भेदाभेद शब्द से चिन्ता क्यों करने लगे? समझाने के लिये केवल 'भाव' पद ही रखना था। भेदाभेदादि शब्द तो वाद खडा करने मात्र के लिये है ॥ १०९-१११ ॥

भगवत्पूज्यपादास्तु तत एव न किंचन ।
चिन्तयांचक्रिरे तत्राऽचिन्त्ये वाचामगोचरे ॥ ११२ ॥

अत एव भगवत्पाद श्री शंकराचार्यने भेदाभेद नाम धामादि किसीका विचार प्रस्तुत नहीं किया। क्योंकि परमतत्त्व अचिन्त्य तथा वाणी का अविषय है। समझाने के लिये ऐश्वर्यादि पद कहकर ही उन्होंने समाप्त किया।

वयं तु गल्भतामात्रात् प्रवक्तुं प्राक्रमिष्महि ।
नामधामादिमिथ्यात्वभ्रान्तिविभ्रंशहेतवे ॥ ११३ ॥

जब भगवान् शंकराचार्यने ही चिन्तन नहीं किया तो आपको यह चिन्तन करनेका साहस कैसे हुआ? इस का उत्तर यह कि हम प्रौढिवाद मात्र से ही बोलना प्रारंभ कर गये हैं। वह भी इस लिये कि नाम धामादि के मिथ्यात्व की भ्रान्ति न हो ॥ ११३ ॥

परिच्छिन्नमिदं दृश्यं मायिकं भाष्यकृज्जगौ ।
अन्यथा खलु वैराग्योपदेशो व्यर्थतामियात् ॥ ११४ ॥

हां, भाष्यकारोंने दृश्य जगत् पर विचार किया। परिच्छिन्न और दृश्य होने से उसे मायिक बताया। शास्त्रों में वैराग्योपदेश जगत की सत्यता मानने पर व्यर्थ हो जायगा। अतः उसे मिथ्या मानना ही उचित है॥

मायापदं केचिदत्र जुगुप्सन्ते मनीषिणः।
मायावादीत्यादिशब्दैराचिक्षिप्सन्ति चापरान् ॥११५॥
कथं च हरिणा सृष्टं जगद् भवतु मायिकम्।
सत्यमेव ततः सर्वमिति तर्कांश्च तन्वते ॥ ११५॥

कुछ मनीषी माया पदसे चिढते हैं। और वेदान्तियों को 'मायावादी' इत्यादि शब्दोंसे आक्षेप व्यंग्य आदि करते हैं। यह तर्क भी रखते हैं कि भगवत्सृष्ट जगत् मायिक कैसा? जगत् सत्य है आदि ॥ ११५ ॥

श्रीमद्भागवते प्रायः प्रत्यध्यायमनेकशः।
मायापदे स्थिते कस्माज्जुगुप्सा ते महामते ॥ ११७॥

उन से यही कहना है कि श्रीमद्भागवत में प्रायः करके प्रत्येक अध्याय में एक बार नहीं, अनेकों बार माया पद आया है। फिर भी हे महामते! आपको माया पदसे चिढ क्यों हो गयी ॥ १०६ ॥

लीलार्थकं तत्र तत्र मायापदमुपैपि चेत्।
मायावादीत्यनेनापि लीलावादीति लभ्यते ॥ ११८॥
स्पष्टार्थमन्यथा कुर्वन् व्याचष्टे यस्तमाह हि।
* बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति* ॥ ११९॥

यदि सब जगह मायापद का भगवान् की लीला अर्थ करते हो तो मायावादीका भी अर्थ भगवत्लीलावादी

होगा। तब आप का व्यंग्य शब्द प्रयोग व्यर्थ हो गया। असल में व्यंग बोलने वाले के मनमें माया शब्दका कोई दूसरा ही प्रसिद्ध अर्थ है। तब उस प्रसिद्ध स्पष्ट अर्थ को छोडकर श्रीमद्भागवत में मायापद का लीला अर्थ क्यों करने लगे? साफ है कि ऐसे व्यक्तियों को लेकर ही स्मृतिकारोंने कहा कि अल्पश्रुत से वेद शास्त्र डरते रहते हैं कि पता नहीं कब यह हमारे सिर पर डंडा मारेगा। स्पष्टार्थ को अन्यार्थ करना ही डंडा मारना है ॥ ११८-

अत्रापि सूत्रकृन्मायां कस्तरेदिति वक्ष्यति।
मायातरणवादो हि मायावादः कथं खलु ॥ १२० ॥

'कस्तरति मायां' इत्यादि स्वयं देवर्षि नारदजी भी आगे कहेंगे। मायातरणवाद भला मायावाद कैसे? ॥

धनाणून् परितो भ्राम्यदृणाणूनां हि वेगतः।
जगद् द्रुतभ्रमद्विद्युद्व्यजनस्थालिकोपमम् ॥ १२१ ॥
अणवोऽप्यतिदूरस्था कर्षसर्गाद्यणुव्रजाः।
नान्ये शक्तिविशेषान्तादिति वैज्ञानिकं मतम् ॥ १२२ ॥
इत्थं च दृश्यमेतद्धि रूपं मिथ्येति निश्चितम्।
शक्तिस्तु परमेशस्य न स्वस्मादतिरिच्यते ॥ १२३ ॥
* न लोके चैत्रतच्छक्त्योर्जीवितं लिख्यते पृथक् *
इत्येवं पञ्चदश्युक्तेः शक्त्याऽद्वैतं न हीयते ॥ १२४ ॥

आधुनिक वैज्ञानिकों का कहना है कि धनाणु (प्रोटोन) के चारों ओर ऋणाणु (इलक्ट्रोन) अति वेगसे घूमते हैं। अत एव जैसे घूमता हुआ बिजली का पंखा एक थाली के आकार में दीखता है विरल नहीं, वैसे अणु और अणु

जन्य पदार्थ ठोस दीखते हैं। वस्तुतः इन पदार्थों में दूर दूर में बहुत थोडे अणु हैं वे अणु भी ठोस नहीं वे भी कर्षाणु का समुदाय, कर्षाणु भी सर्गाणु समुदाय इस प्रकार अन्त में केवल गतिमात्र या शक्तिमात्र अवशिष्ट रहता है। उस शक्तिके गतिविशेष से ये अणु पदार्थादि दीखते हैं। इस वैज्ञानिक विवेचन से स्पष्ट है कि यह दृश्यरूप वास्तव में ऐसा नहीं है। इस का स्वरूप दूसरा ही है। अर्थात् शक्ति ही है। वह शक्ति शक्तिमान् परमात्मा से भिन्न नहीं है। चैत्र और उस की शक्ति ऐसे दो नहीं गिने जाते। इस पंचदशीकार स्वामी विद्यारण्यजी के कथन से शक्ति को लेकर अद्वैत की हानि भी नहीं होती ॥ १२१-१२४ ॥

शक्तिसत्यत्वतः सृष्टिमाचार्याः संजगुः सतीम् ।
रूपमिथ्यात्वतः सृष्टिमाचार्याः प्रोचिरेऽसतीम् ॥१२५॥

समन्वयं विधायैवमाचार्यवचसां सताम् ।
मिथ्यारूपाद् विरज्यैव संसेव्यो भगवान् हरिः ॥१२६॥

भगवद्रूपेण शक्ति सत्य होनेसे तदुत्पन्न सृष्टि को कुछ आचार्योंने सत्य कहा परंतु दृश्यरूप मिथ्या होनेसे अन्य आचार्योंने सृष्टिको मिथ्या कहा। इस प्रकार आचार्यवचनों का समन्वय करके मिथ्यारूपसे विरक्त हो भगवान् हरि का भजन करना चाहिये, न कि विवाद झगडा ॥

नन्वेवं दिव्यनामादि सत्यमैन्द्रियिकी पुनः ।
वृत्तिर्मिथ्येति तस्याश्च वैराग्यं किं न संश्रयेत् ॥ १२७ ॥

मैवं मिथ्यापि वृत्तिर्न ब्रह्माकारा यथोज्झ्यते ।
तथैव कीर्त्तनाद्यात्मा वृत्तिर्ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥ १२८ ॥

दिव्यनामादि सत्य हो, किन्तु इन्द्रियवृत्तिरूपी कीर्त्त-नादि मिथ्या होनेसे त्याज्य क्यों नहीं ? इसका उत्तर यही कि ब्रह्माकार वृत्ति मिथ्या होने पर भी जैसे ग्राह्य है वैसे कीर्त्तनादि भी ग्राह्य है ॥ १२६-१२८ ॥

चित्तवृत्त्या नहि ब्रह्म प्रकाश्यं स्वप्रभं परम् ।

किन्त्वावरणभङ्गेन स्वयं स्फुरति तद्यथा ॥ १२९ ॥

तथेन्द्रियादिवृत्त्यापि नामधामादिकं हरेः ।

न प्रकाश्यं स्वयं किन्तु स्फुरत्यावृतिभङ्गतः ॥ १३० ॥

अखण्डाकारवृत्ति से ब्रह्म प्रकाश्य नहीं है। वह स्वयं-प्रकाश है। आवरणभंग होने पर स्वयं स्फुरित होता है। वैसे कीर्त्तनादि इन्द्रियवृत्तिसे नामादि प्रकाश्य नहीं किन्तु आवरणभंग से स्वयं स्फुरित होता है ॥

नन्वेवं कीर्त्तनादीनां नित्यत्वमुपगम्यताम् ।

किन्त्वेषां रसरूपत्वं केनचिन्नानुभूयते ॥ १३१ ॥

यदि स्याद्रसरूपत्वं प्रवर्त्तेताखिलो जनः ।

शृण्वन्तोऽप्यरसान्नाम त्यक्त्वा निद्रान्ति भूरिशः ॥१३२॥

शंकाः—भले ही नामादि नित्य हो, किन्तु वे रसरूप तो नहीं है। रसरूप होता तो सब लोग कीर्त्तनादि में प्रवृत्त होते। लेकिन होता ऐसा है कि कीर्त्तन सुनते हुए भी नीरस होने से लोग सो जाते हैं ॥ १३१-१३२ ॥

अत्रोच्यते पित्तदोषदूषितानां हि शर्करा ।

कटुका भासते नैतावता सा कटुका भवेत् ॥ १३३ ॥

प्रतिबन्धकदोषाः स्युः पित्तवत्सर्वदेहिनाम् ।

तन्नाशे कीर्त्तनादिश्च रसरूपैव भास्यति ॥ १३४ ॥

उत्तरः—पित्तदोष से शक्कर कडवी लगे तो क्या सचमुच वह कडवी है? पित्त के समान प्रतिबन्धक पाप से कीर्त्तनादि सरस प्रतीत नहीं होते।

सशीता शर्करैव स्यात् पित्तप्रशमनी यथा।
सतपः कीर्त्तनाद्येव प्रतिबन्धकपापहृत् ॥ १३५ ॥
आवृत्तिः कीर्त्तनादीनां प्रागस्माभिः समर्थिता।
प्रतिबन्धकविध्वंसो रसव्यक्तिस्तथा तया ॥ १३६ ॥

शीतयुक्त शक्कर ही पित्त का नाशक भी है वैसे तपोयुक्त कीर्त्तनादि ही प्रतिबन्धक पाप को भी नष्ट कर देते हैं। या कीर्त्तनादि की आवृत्ति करें यह हम पहले कह चुके हैं। उससे प्रतिबन्धक का नाश और रसाभिव्यक्ति होती है ॥ १३५-१३६ ॥

इत्थं चामृतरूपत्वं न व्यावर्त्तयितुं क्षमम्।
नित्यत्वाद् रसरूपत्वात् कीर्त्तनादेरिति स्थितिः ॥१३७॥

सिद्धान्त यह निश्चित हो गया कि नित्य तथा रसरूप होनेसे नाम संकीर्त्तनादि भी "अमृतस्वरूपा च" इस सूत्र के लक्ष्यसे व्यावृत्त नहीं हो सकते ॥ १३७ ॥

नन्वेवं कीर्त्तनादीनां भक्तीनाममृतात्मनाम्।
सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपेत्यव्याप्तलक्षणम् ॥ १३८ ॥
दत्तमत्रोत्तरं पूर्वं प्रेमानन्ताब्धिसंनिभम्।
तस्यैव बुद्बुदाद्याभं नामरूपादिकं हरेः ॥ १३९ ॥
श्रवणोच्चारणाद्यैश्च तदभिव्यक्तिरिष्यते।
अभिव्यक्तं च नामादि प्रेम्णो नैवातिरिच्यते ॥ १४० ॥

यदि कीर्त्तनादि भी अमृतस्वरूप भक्ति है तो 'सात्व-स्मिन् परमप्रेमरूपा' इस लक्षण की अव्याप्ति होगी। इसका उत्तर पूर्व ही दे चुके हैं कि परमप्रेम सागरसमान है। और उसीके बुद्बुदसमान हरिके नामरूपादि हैं। श्रवणकीर्त्तनादि से उसकी अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्त नामादि प्रेमरूप ही हैं। अतः लक्षणसंगति है॥

बुद्बुदाद्युक्तदृष्टान्तः प्रेमाभिन्नत्वमात्रतः।
न परिच्छिन्नताहेतोर्दिव्यं नामादि हीरितम् ॥ १४१ ॥

बुद्बुद का दृष्टान्त इतने ही अंश में है कि प्रेमसे अभिन्न हैं हरिके नामादि। न कि नामादि परिच्छिन्न हैं इसमें। क्योंकि वह दिव्य है यह पहले कहआये हैं ॥१४१॥

* श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्* ॥ १४२ ॥
इत्युक्ता नवधा भक्तिः प्रह्लादेन शिवेन च।
रामेण किंचिद् व्यत्यस्य शबर्यै समुदाहृता ॥ १४३ ॥

श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन यह नवधा भक्ति भागवत में और शिवपुराण में है और कुछ फरक करके रामायण में भी है ॥ १४१-१४३ ॥

नामरूपगुणैश्वर्यलीलाधामादिगोचरः।
शाब्दबोधश्च तच्छब्दयोगश्च श्रवणं मतम् ॥ १४४ ॥

भगवानके नाम रूप गुण ऐश्वर्य लीला धामादि बोधक शब्द सुनना और उसका अर्थ समझना दोनों ही श्रवण कहलाता है ॥ १४४ ॥

तस्मिन्महन्मुखरिताः कथापीयूषवाहिनीः।
तृषया पिबतः कर्णैर्नैव शोकभयादयः ॥ १४५ ॥
* नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्* ॥ १४६ ॥
* वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोक वार्त्तया।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे* ॥ १४७ ॥
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामाद्यशसो हरेः।
वितृष्णैर्गीयमानात् को विरज्येत पशुघ्नतः ॥ १४८ ॥
इत्यादौ शब्दतः क्वापि चार्थतोऽमृतरूपता।
नित्यानन्दरसोक्त्यैव श्रवणस्योपदर्शिता ॥ १४९ ॥

भागवतमें:—कथामृत पीनेवालों को शोक भयादि नहीं होते; राजाः—हरि कथामृतसे मैं भूख प्यास भूल गया हूं; ऋषिगणः—हम कथासे तृप्त नहीं हो रहे. पद पद में स्वाद भरा है, परीक्षित्:—भवौषध, श्रोत्रमनोभिराम हरिकथा से जिसे कि विरक्त गाते हैं पशुघ्न के सिवाय दूसरा कौन उपरत हो इत्यादि वचनों में कहीं शब्दतः और कहीं अर्थतः श्रवणको नित्यानन्दरसरूप बताया है ॥

भगवन्नामलीलादिसमभिव्यञ्जनक्षमम्।
शब्दोच्चारणमेवात्र कीर्त्तनं परिकीर्त्तितम् ॥ १५० ॥
महान्तः कीर्त्तयन्त्युच्चैः क्वाप्युपांश्वपि मानसम्।
मानसादिभिरप्यन्तर्नामादि व्यज्यते यतः ॥ १५१ ॥

भगवानके नाम लीला आदि को बोलना कीर्त्तन है। ऊंचे स्वरसे धीमे स्वरसे और मानस कीर्त्तन भी होता

है। मानस जपसे भी अंदर नामाभिव्यक्ति तो होती ही है॥ १५०-१५१॥

नापारयन् वर्णयितुं कृष्णवर्णस्य माधुरीम्।
कवयः पापहश्चानो रसिका भुवि भावुकाः॥ १५२॥

* ऋग्वेदो हि यजुर्वेदः सामवेदोऽप्यथर्वणः।
अधीतास्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम्*॥ १५३॥

* मा ऋचो मा यजुस्तात मा साम पठ किंचन।
गोविन्देति हरेर्नाम गेयं गायस्व नित्यशः*॥ १५४॥

* एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम्*॥ १५५॥

इदं हि पुंसस्तपसः स्विष्टादेर्बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थ उक्तो यदुत्तमश्लोकवर्णनम्॥ १५६॥
इत्यादौ पुरुषार्थत्वव्यक्तेर्नित्यरसात्मता।

श्रीरूपगोस्वामीः—'नो जाने जनिता कियद्भिरमृतै कृष्णेति वर्णद्वयी' पता नहीं कितने अमृतसे कृष्णवर्ण बना ऐसा वे वर्णन नहीं कर सके। विष्णुध०:--ऋग्वेदादि उसने पढा जिसने 'हरि' कहा। स्कन्द०:--मत पढो वेद, पर बोलो गोविन्द। भाग०:—हरिनामानुकीर्त्तन ही अभय है। भगवद्गुण कीर्त्तन ही सर्वधर्म का फल है। इत्यादि वचनों में कीर्त्तन को पुरुषार्थरूप बतानेसे उसकी नित्यरसात्मता सिद्ध होती है॥ १५३-१५६॥

तथा च वेदभगवानग्निमीळे पुरोहितम्॥ १५७॥

द्युस्थानं देवमित्यूचे यास्को ह्यग्निविशेषणम् ।
दिव्योऽग्निः परमात्माऽतः स्तूयते यज्ञियत्वतः ॥१५८॥

'मैं अग्निकी स्तुति करता हूँ। ऐसा ऋग्वेदका प्रारंभ है। अग्निका एक विशेषण मन्त्रमें 'देवं' आया है। उसका अर्थ महर्षि यास्कने किया है द्युस्थानम्। अर्थात् दिव्य। दिव्यअग्नि परमात्मा ही है। यज्ञिय अग्नि के साथ एकता करके उसकी स्तुति मन्त्रमें प्रस्तुत भी है॥ १५७-१५८॥

तमु स्तुध्वं यथाज्ञानं तेन जन्माभिपूर्यताम् ।
इत्यत्र जन्मपूर्णत्वं कृतार्थत्वात् स्तुते रसात् ॥ १५९ ॥

"तमु स्तोतारः पूर्वं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्त्तन ; आस्यजानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे" इस वेदमन्त्रमें भगवान की स्तुति करो और जन्म पूर्ण करो ऐसा जो बताया उसमें जन्मकी पूर्णता कृतार्थता के कारण ही है। कृतार्थता भी इसलिये कि स्तुति स्वयं रसरूप है॥ १५९॥

योऽर्पयेद् विष्णवे सर्वं तथा जन्मादिकं हरेः ।
कीर्त्तयेच्छृणुयाच्चापि युज्यं चित्स्यात् स तन्मयः ॥१६०॥

"यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे सुमज्जानये विष्णवे ददाशति। यो जातमस्य महतो महिब्रवत् सेदु श्रवोभिर्युज्यं चिदभ्यसत्" इस वेदमन्त्रमें कहा है कि जो भगवान विष्णु को सर्वस्व समर्पण करता है और उनके उत्तम जन्मादिका कीर्त्तन श्रवणादि करता है वह युज्यं-युक्त होने योग्य चित्=चिद्रूप होता है अर्थात् अन्तिम लक्ष्यस्वरूप तन्मयता प्राप्त करता है॥ १६०॥

मानसं दर्शनं प्रोक्तं स्मरणं चिन्तनात्मकम् ।
श्रीहरेर्नामरूपादिविषयं तदनेकधा ॥ १६१ ॥
स्मरणं धारणं ध्यानं ध्रुवानुस्मृतिरेव च ।
समाधिरिति तद्भेदा पञ्च विद्भिरीरिताः ॥ १६१ ॥

स्मरण मानसदर्शन को कहते हैं। वह हरि के नामादि विषयक चिन्तन पांच प्रकारका है–स्मरण, धारण, ध्यान, ध्रूवानुस्मृति और समाधि।

* येन केनाप्युपायेन स्मृतो नारायणोऽव्ययः ।
अपि पातकयुक्तस्य प्रसन्नः स्यान्न संशयः* ॥ १६३ ॥
यत्किंचिदनुसन्धानलक्षणं स्मरणं त्विह ।

जिस किसी प्रकार भगवानका स्मरण हो तो पातकी होने पर भी भगवान प्रसन्न होते हैं। इस बृहन्नारदीयवचनोक्त यत्किंचित् अनुसंधान स्मरण है॥

धारणा सर्वतश्चित्ताकर्षणे सति पूर्ववत् ॥ १६४ ॥
अनुस्मरणमित्याहुरपरे धारणामिमाम् ।
* मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥ १६५ ॥

सब ओर से चित्तको हटाकर अनुसंधान करना धारणा है। इसीको कुछ लोग अनुस्मरण भी कहते हैं। मेरा अनुस्मरण करनेवालोंका चित्त मुझमें लीन होता है इस वचनमें उक्त धारणा कही गयी है॥ १६५॥

सामान्यतो धारणा स्याद्विशेषे ध्यानमुच्यते ।
अत्राऽऽन्तरं दर्शनं हि विस्पष्टमुपजायते ॥ १६६ ॥

* भगवच्चरणद्वन्द्वध्यानं निर्द्वन्द्वमीरितम् ।
पापिनोऽपि प्रसङ्गेन विहितं सुहितं भवेत्* ॥ १६७ ॥

सामान्य विशेषभाव ही धारण और ध्यानमें अन्तर है। ध्यानमें अन्तर्दर्शन होता है यही विशेषता है। नारसिंह पुराणमें बताया है कि पापियोंका भी प्रसङ्ग क्यों न हो फिर भी निर्द्वन्द्व भगवत् ध्यान अत्यन्त हितकारी होता है ॥ १६६-१६७ ॥

निरन्तरसविच्छिन्नतैलधारासहोदरे ।
भगवद्विषये चित्ते ध्रुवानुस्मृतिरुच्यते ॥ १६८ ॥
* मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ* ॥१६९॥

निरन्तर अविच्छिन्न तैलधारा के समान भगवानमें चित्तवृति होने पर ध्रुवानुस्मृति होती है। मद्गुणश्रुति इत्यादि कपिलवचन है ॥ १६८-१६९ ॥

ध्येयैकस्फुरणा चेत्स्यात् समाधिरभिधीयते ।
सविकल्पो निर्विकल्प इति द्वे तद्भिदे मते ॥ १७० ॥
* तयोरागमने साक्षादीशयोर्जगदात्मनोः ।
न वेद रुद्धधीवृत्तिरात्मानं विश्वमेव च* ॥ १७१ ॥
इत्यत्र सविकल्पोऽयं निर्विकल्पं मुनिर्जगौ ।
* ध्यायतश्चरणाम्भोजं नापश्यमुभयं मुने* ॥ १७२ ॥

ध्येय भगवन्मात्रकी स्फुरणा हो तो समाधि होती है। सविकल्प और निर्विकल्प ये उसके दो भेद हैं।

जगदन्तरात्मा राम और कृष्ण के आगमन से चित्तवृत्ति निरुद्ध हुई और अपने को तथा विश्वको भूल गये इस वचनमें सविकल्प समाधि दिखाई। निर्विकल्पक समाधि नारदजी के वचनमें देखिये:-भगवान के चरण स्मरणमें मैंने उभयको नहीं देखा ॥ १७०-१७२ ॥

त्रैलोक्यविभवार्थेऽपि न चलेद्यस्य मानसम्।
भगवत्पदतोऽकुण्ठस्मृतेः स वैष्णवाग्रणीः ॥ १७३ ॥
त्रैलोक्ये यावदानन्दस्ततः परतरोऽत्र हि।
दर्शितः स्मरणस्यातः सिद्धा नित्यरसात्मता ॥ १७४ ॥

"त्रिभुवनविभवहेतवे०" श्लोकमें-एक ओर त्रिभुवन वैभव मिलता हो तो भी दूसरी ओर भगवत्स्मरणासक्त विचलित नहीं होता कहकर यह स्पष्ट किया कि त्रिलोक के आनन्द से भी उत्कृष्टरस भगवत्स्मरणमें है ॥१७३-१७५॥

विचक्रमे महीमेतां स्मरते दातुमीश्वरः।
इति वेदोऽपि भगवत्स्मरणं स्तौति सत्यवाक् ॥ १७४ ॥

"विचक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन्" इत्यादि वेदमन्त्रमें-भगवानने अपना स्मरण करनेवाले देवोंको देने के लिये पृथिवी को तीन पगमें नापा था बताकर भगवत्स्मरणकी महिमा गायी है।

* यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे*॥ १७६ ॥
योगेश्वरैर्हृदि ध्येयं पद्मनाभपदाम्बुजम्।
गेहंजुषामपि मनस्युदियान्नः सदा प्रभो ॥ १७७ ॥

जिसके स्मरण मात्र से जन्मसंसारबन्धनमुक्ति हो उस प्रभु भगवान विष्णुको प्रणाम। गोपियाँः-हे पद्मनाभ! आपका चरण कमल योगियों के लिये भी ध्यान योग्य है। घरमें रहते हुए भी हमारे हृदयमें वही निरन्तर स्फुरित हो॥ १७६-१७७॥

पादसेवनमित्यत्र पादेत्यादरनम्रयोः।
शैवे सेवनमात्रोक्तेरिति केचित्प्रचक्षते॥ १७८॥
अध्येयं सकलं शास्त्रं स्थित्वैव गुरुपादयोः।
इत्यादौ द्विविधोऽप्यर्थः पादशब्दस्य लक्ष्यते॥ १७९॥
श्रीमूर्त्तेर्दर्शनं स्पर्शः परिक्रमणमेव च।
तीर्थादिगमनाद्यं च पादसेवनशब्दितम्॥ १८०॥

पादसेवन में पादशब्द आदर और नम्रता बताने के लिये है। जैसे गुरुचरणोंमें रहकर पढा इत्यादि प्रयोगमें। शिवपुराणमें केवल सेवन ही लिखा भी है। मूर्त्तिदर्शन परिक्रमा तीर्थसेवन आदि सभी पादसेवन है॥ १७९-१८०॥

पादोऽस्य विश्वाभूतानि श्रुतेरीश्वरदृष्टितः।
प्राणिनां सेवनं प्राहुरितरे पादसेवनम्॥ १८१॥

पादोऽस्य विश्वा भूतानि इस श्रुति के अनुसार प्राणिमात्र की ईश्वरदृष्टिसे सेवा करना पादसेवन है ऐसे अन्य महापुरुष मानते हैं॥ १८१॥

* तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोयज्ञक्रियादिभिः।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया*॥ १८२॥
न कामयेऽन्यं तु वरं तव पादाब्जसेवनात्।
कोऽपवर्गदमुज्झित्वा वृणीयादात्मबन्धनम्॥ १८३॥

इत्यादौ पादसेवायाः पुरुषार्थत्ववर्णनात् ।
सूचितं रसरूपत्वं तच्च वेदेऽपि दृश्यते ॥ १८३ ॥

तप यज्ञ आदिसे पाप नष्ट होते हैं किन्तु अधर्म-वासना नहीं । हरिपादसेवन से दोनों ही नष्ट होते हैं । हे परमेश्वर आपके पादसेवन से अन्य दूसरा कोई वर-दान मुझे नहीं चाहिये । भला मोक्षदायी हरि को छोडकर कौन अपना बन्धन चाहेगा ॥ इन वचनोंमें पादसेवन को पुरुषार्थ बताकर रसरूप सूचित किया । यही वेदमें भी बताया है ॥ १८१–१८४ ॥

पदानि मधुपूर्णानि मादयन्त्याश्रिताञ्जनान् ।
यस्य यस्त्रिविधां पृथ्वीं द्यां च विश्वं च संदधौ ॥ १८५ ॥

"यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति । य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दधार भुवनानि विश्वा" इस वेदमन्त्रमें कहा है:–अमृतपूर्ण भगवत्पद आश्रितजनोंको आनन्दित करते हैं । वह परमेश्वर तीन प्रकारकी पृथिवी तथा अन्तरिक्षको और समस्त विश्वको धारण किये हुए है ॥ १८५ ॥

अर्चनं द्विविधं प्रोक्तं बाह्यं मानसमेव च ।
केवलं कर्ममिश्रं चेत्येतच्च द्विविधं मतम् ॥ १८६ ॥
तान्त्रिकं वैदिकं चापि मिश्रं चेति त्रिधा पुनः ।
सदीक्षं चाप्यदीक्षं च क्वचिदेतदुपेयते ॥ १८७ ॥
* विनैव दीक्षां विप्रेन्द्र पुरश्चर्यां विनैव हि ।
विनैव न्यासविधिना जपमात्रेण सिद्धिदा* ॥ १८८ ॥

अर्चन के प्रकार (१) बाह्य और मानस । (२) कर्म-

मिश्रित और कर्मरहित। (३) तान्त्रिक, वैदिक और मिश्र (४) सदीक्ष और अदीक्ष ॥ १८६–१८८ ॥

* अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनाम् ।
यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषम्* ॥ १८९ ॥
* एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः ।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा* ॥ १९० ॥
अन्येतरानपेक्षत्वात् फलत्वाच्चार्चनस्य तु ।
परमत्वं तथा चाह श्रुतिर्भगवती स्वयम् ॥ १९१ ॥

श्रद्धा से शुद्ध धनके द्वारा भगवत्पूजन ही मंगलमार्ग है, सर्वश्रेष्ठ धर्म है–भगवानको स्तुतियोंसे अर्चन करना। इन वचनोंमें अन्यानपेक्ष और फल कहकर रसरूपता अर्चन की सूचित हुई है। श्रुति वचन भी वैसा है ॥१८९–१९१॥

यज्ञेन यज्ञमयजन् ते धर्माः प्रथमाः स्थिताः ।
सचन्त यत्र पूर्वे हि साध्या देवास्तथैव च ॥ १९२ ॥
यजतिर्देवपूजार्थो यज्ञो वै विष्णुरेव च ।
प्रथमत्वं महिष्ठत्वाद् मानसं त्विह पूजनम् ॥ १९३ ॥
सचन्त समवेतास्ते रसत्वाद् यजनस्य हि ।
तथा च रसरूपत्वं पूजनस्याप्यवस्थितम् ॥ १९४ ॥

"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" इस मन्त्रमें देवोंने विष्णुका पूजन किया वह धर्म प्रथम अर्थात् महान हुआ। अतिरसरूप होने से देवगण तथा साध्यगण एकत्रित हुए कहकर पूजनको रसरूप बताया।

वन्दनं तु नमस्कारस्त्रिविधः परिकीर्त्तितः ।
कायेन मनसा वाचा स्वाहंकारविमर्दनः ॥ १९७ ॥

कायिक वाचिक मानसिक नमस्कार वन्दन अहंकार-नाशक है ॥ १९५ ॥

वीक्षमाणोऽनुकम्पां ते जीवेत्कर्मविपाकभुक् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमोऽसौ मुक्तिदायभाक् ॥ १९६ ॥
एकः कृष्णप्रणामोऽपि ह्यश्वमेधदशोत्तरः ।
पुनर्भवत्यश्वमेधी न कृष्णं प्रणमन् क्वचित् ॥ १९७ ॥
* दुर्गसंसारकान्तारमपारमभिधावताम् ।
एकः कृष्णे नमस्कारो मुक्तितीरस्य देशिकः * ॥ १९८ ॥

आपकी दयाकी प्रतीक्षा करते हुए प्रारब्ध भोगते हुए हृदय वाणी और शरीरसे प्रणाम करनेवाला मुक्तिका अधिकारी होता है ॥ दशाश्वमेध से भी बढकर कृष्ण प्रणाम है । अश्वमेधी को पुनर्जन्म होता है कृष्ण प्रणामी को नहीं । अपार संसार काननमें दौडनेवालों के लिये एक भी भगवत्प्रणाम मुक्ति तीर पहुँचा सकता है ।

नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे ।
यतः पश्यन्ति गोपाद्या अपि त्वां नमनात् प्रभो ॥१९९॥
दृष्टश्च परमानन्दं प्रददासि न संशयः ।
इत्याह वेदो नमनमज्ञानामपि सौख्यदम् ॥ २०० ॥

"नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे । उतैनं गोपा अदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्यः स दृष्टो मृडयाति नः " इस वेदमन्त्रमें कहा है कि मैं सहस्राक्ष भगवानको प्रणाम करता

हूँ इसलिये कि प्रणाम मात्रसे ग्वाले और पनिहारिन जैसे अज्ञानी भी आपको देखते हैं और दर्शन से सुख पाते हैं।

पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्त इति वागपि ।
पुरुषार्थस्वरूपत्वमभिव्यञ्जयते नतेः ॥ २०१ ॥
* ममाद्यामङ्गलं नष्टं फलवांश्चैव मे भवः ।
यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम्* ॥ २०२ ॥
इत्यादिवचनैः स्पष्टमक्रूरः पुरुषार्थताम् ।
नमनस्याह तस्माच्च रसविग्रहता नतेः ॥ २०३ ॥

बार बार आपको नमस्कार इत्यादि अर्जुन वचनमें पुरुषार्थ होनेकी झलक है मेरा अमंगल नष्ट हुआ जन्म सफल हुआ कि भगवच्चरणों को नमस्कार कर रहा हूँ इस अक्रूरवचनमें स्पष्ट ही पुरुषार्थता कही गयी है। अतः नमस्कार भी रसस्वरूप सिद्ध होता है ॥ २०१-२०३ ॥

दास्यं तु दासभावः स्याद्दासंमन्यत्वमेव च ।
द्वितीयं साधनं तत्र सर्वसाधारणत्वतः ॥ २०४ ॥
अस्याङ्गविधया सेवानमःस्तुत्यर्पणादिकम् ।
श्रीधरस्वामिनः प्राहुर्मुख्यदास्ये तु तत्तथा ॥ २०५ ॥

वास्तविक दासभाव और दास अपनेको मानना दोनों ही दास्य है। इनमें द्वितीय सर्वसाधारण साधन है। दास्यका ही अंग सेवा नमस्कारादि श्रीधरस्वामी ने जो कहा है वह मुख्यदास हनुमान आदि के लिये समझना चाहिये। अन्यत्र पादसेवन वन्दनादि स्वतन्त्र ही भक्ति है।

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः ।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते ॥ २०६ ॥

कृतकृत्यत्वमत्रोक्तं दासभावेन देहिनाम् ।
दासंमन्यत्वमात्रेणाप्यन्यत्र तदुदीरितम् ॥ २०७॥
* जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्यान्मतिरीदृशी
दासोऽहं वासुदेवस्य सर्वाल्लोकान् समुद्धरेत्* ॥ २०८ ॥
स्वयमुद्धृत एवायमन्योद्धारक्षमः पुमान् ।

जिनके नाम सुनने पर भी मनुष्य निर्मल हो उन परमात्मा के जो दास बन गये उनका बाकी क्या रह गया। इस वचनमें दासकी कृतकृत्यता स्पष्ट है । और मैं दास हूँ ऐसे मानने मात्र से भी दूसरोंका उद्धार कर देता है तो स्वयंका उद्धार तो अर्थसिद्ध ही है ॥ २०६-२०९ ॥

दासभावस्वरूपं च शास्त्रेषु विनिरूपितम् ॥ २०९ ॥
* त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलंकारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि* ॥ २१० ॥

दास भावका स्वरूप दाखिये-हे भगवान आपके उपभुक्त मालाचंदनादि को धारण कर आपके उच्छिष्ट भोजी हम दास आपकी माया को जीतेंगे ॥ २१० ॥

* नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः ।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥२११॥
आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः ।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः ॥२१२
अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः ।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव* ॥ २१३ ॥

प्रह्लादः-हे नृसिंह भगवन्-वरों की आशा रखनेवाला दास नहीं, व्यापारी है। वह स्वामी भी नहीं जो भृत्य को विषय देकर स्वामी बनना चाहता है। मैं अकाम भक्त हूँ और आप निरपेक्ष स्वामी हैं। बस इतना ही हम दोनोंका प्रयोजन है॥ २११-२१३॥

इत्युक्तं दासभावस्य प्रह्लादेन महात्मना।
स्वरूपं च स्वयं मुख्यपुमर्थत्वं च विस्फुटम् ॥ २१४ ॥

प्रह्लादवचनमें दास्यका स्वरूप और पुरुषार्थरूपता स्पष्ट है ॥ २१४ ॥

त्रिर्देवः पृथिवीमेष विष्णुरेतां विचक्रमे।
स प्रास्तु नामदीप्तं हि यस्येत्याह श्रुतेर्वचः ॥ २१५ ॥
प्रास्तु प्रभवतु श्रीशः स्वामित्वं नो वहत्विति।
फलान्तरानुक्तितश्च पुरुषार्थत्वमस्य तु ॥ २१६ ॥

"त्रिर्देवः पृथिवीमेष एतां विचक्रमे शतर्चसं महित्वा। प्र विष्णुरस्तु तवसस्तवीयान् त्वेषं ह्यस्य स्थविरस्य नाम" इस वेदमन्त्रमें 'प्र+अस्तु'का प्रभवतु=प्रभु हो स्वामी हो अर्थ है। 'जिस भगवानने पृथिवी को तीन पगोंमें नापा जिसका नाम अत्यन्त उज्ज्वल वह मेरे प्रभु हो' इस अर्थमें प्रभु होनेका अन्य कोई फल नहीं बताया अतः वह स्वयं पुरुषार्थ सिद्ध होता है॥ २१४-२१६॥

हिताशंसामयो बन्धुभावः सख्यमुदीर्यते।
समानख्यातिराहो तत् विश्वासस्तदितीतरे ॥ २१७ ॥

सख्य-हितेच्छापूर्ण बन्धुभाव, समानभाव, विश्वास इन तीनको कहते हैं ॥ २१७॥

* शान्ताः समदृशः शुद्धाः सर्वभूतानुरञ्जनाः ।

यान्त्यञ्जसाऽच्युतपदमच्युतप्रियबान्धवाः* ॥ २१८ ॥

बन्धुभावात्मकं सख्यमत्र सम्यगुदीरितम् ।

द्वा सुपर्णा इति श्रुत्या समानख्यातिरीरिता ॥ २१९ ॥

भगवान के प्रियबन्धु शान्तादि गुणयुक्त भगवत्पद को प्राप्त होते हैं। यहाँ बन्धुभावरूपी सख्य और द्वा सुपर्णा श्रुतिमें समानख्यातिरूप सख्य बताया है ॥ २१८-२१९ ॥

* नाविष्णुः कीर्त्तयेद्विष्णुं नाविष्णुर्विष्णुमर्चयेत् ।

नाविष्णुः संस्मरेद्विष्णुं नाविष्णुर्विष्णुमाप्नुयात्* ॥२२०॥

अभेदलक्षणं त्वत्र सख्यं समभिधीयते ।

सर्वथा भेदराहित्ये कीर्त्तनादेरसंभवत् ॥ २२१ ॥

'अविष्णु विष्णुका कीर्त्तन अर्चन वा स्मरण न करें। अविष्णु विष्णु को प्राप्त नहीं होता' यहाँ अभेदरूपी सख्य बताया है। सर्वथा भेद न हो तो कीर्त्तनादि ही कैसे संभव है ॥ २२०-२२१ ॥

* अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।

यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्* ॥ २२२ ॥

इति ब्रह्मस्तुतौ मैत्री परमं भाग्यमीरिता ।

ततोऽस्याः पुरुषार्थत्वं रसात्मत्वं च सिद्ध्यति ॥ २२३ ॥

ब्रह्माजी कृत स्तुतिमें:-महाभाग्य है व्रजवासियोंका जिनका कि परमानन्द ब्रह्म मित्र है कहकर मैत्री को पुरुषार्थ और रसरूप बताया है। २२२-२२३ ॥

तदस्याभिप्रियं पाथोऽश्नीयां निष्यन्दितं पदे ।

उरुक्रमस्य बन्धुः सन्निति वेदेऽपि दृश्यते ॥ २२४ ॥

सबन्धुभावपादाम्बुप्रार्थनायां विशेषणम् ।
पुमर्थं ज्ञायते मन्त्रे बन्धुत्वं सख्यलक्षणम् ॥ २२५ ॥
अर्चनान्तर्गतं किं वा पादसेवनभेदयुत ।
पादाम्बुग्रहणं चास्मात् पुमर्थमवगम्यते ॥ २२६ ॥

उरुक्रम भगवानका बन्धु होकर तच्चरणोदकरूपी प्रिय जल मैं पिया करूँ ऐसा वेदमन्त्र में भी बताया है:- "तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति । उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः" ऐसा मन्त्र है । इस मन्त्रमें बन्धुभाव विशेषण जोडने से उसकी पुरुषार्थता ज्ञात होती है । अर्चनान्तर्गत या पाद सेवनान्तर्गत चरणोदकग्रहणकी पुरुषार्थता भी उक्त मन्त्रसे सिद्ध होता है ॥ २२४-२२६ ॥

आदेहात्मार्पणं केचित्प्राहुरात्मनिवेदनम् ।
शरणापत्तिमेवान्ये तत्स्वरूपं मनीषिणः ॥ २२७ ॥

देह से आत्मा तक सर्व समर्पण आत्मनिवेदन है ऐसा एक मत है । शरणागति आत्मनिवेदन है ऐसा दूसरा मत है ॥ २२७

स वै मनः कृष्णपदोर्वचा वैकुण्ठवर्णने ।
करौ मन्दिरमार्ष्ट्यादौ ुतिं कृष्णकथोदये ॥ २२८ ॥
तल्लिङ्गदर्शने नेत्रे अङ्गान्याऽऽमर्शनेऽस्य च ।
घ्राणं तुलस्याद्याघ्राणे रसनां च तदर्पिते ॥ २२९ ॥
तत्क्षेत्रसर्पणे पादौ शिरः पादाभिवन्दने ।
दास्यार्थजीवने कामं रतिर्यत्तज्जनाश्रया ॥ २३० ॥

इत्येवं विनियोगो यो मनोवाक्कायकर्मणाम् ।
हरौ तदेव जगदुरन्ये त्वात्मनिवेदनम् ॥ २३१ ॥

तीसरा मत है "स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो:" इत्यादि श्लोकोक्त क्रम से मनवाणी आदिका भगवानमें विनियोग आत्मनिवेदन है । मन को ध्यानमें, वाणी को स्तुतिमें, कानोंको कथामें, नेत्रको हरिदर्शनमें, अंगोंको मूर्त्ति स्पर्शमें, नाकको प्रसाद सूंघनेमें, जिह्वाको भोग पानेमें, पांवको तीर्थगमनमें, सिर को प्रणाम करनेमें, दास्यजीवन संपादनार्थ कामको उन्होंने लगाया ॥

यो ब्रह्माणं व्यधात् पूर्वं तस्मै वेदांश्च प्राहिणोत् ।
मुमुक्षुस्तमहं देवं प्रपद्ये शरणं प्रभुम् ॥ २३२ ॥
अत्र साधनरूपेण प्रोक्तापि शरणागतिः ।
क्रमेण फलरूपा स्यान्मुक्तिस्तद्रूपिणी यतः ॥ १२३ ॥

यो ब्रह्माणं इस मन्त्रमें शरणागतिका वर्णन है । मुमुक्षु शब्द से यद्यपि शरणागति साधनरूप प्रतीत होती है तथापि क्रमशः वही फल भी बन जाती है ।

* अविनिर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः ।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा* ॥२३४॥
पतिदृष्टान्ततो ह्यत्र प्रोक्तमात्मनिवेदनम् ।
तस्यापि रसरूपत्वं तद्दृष्टान्तेन गम्यते ॥ २३५ ॥

निर्बन्धशून्य सन्त उसी प्रकार मुझे वश करते हैं जैसे पत्नी सत्पतिको यहाँ पतिदृष्टान्तसे आत्मनिवेदन और उसकी रसरूपता दोनों स्पष्ट हैं ॥ २३४–२३५ ॥

अनिर्बन्धत्वमप्येषां समर्पणनिबन्धनम् ।
निर्बन्ध आग्रहो ग्राहस्तद्भिन्नो हि रसग्रहः ॥ २३६ ॥

किसीमें निर्बन्ध-आग्रह न होना यह समर्पणका ही परिणाम है। निर्बन्ध आग्रहको कहते हैं वह तो ग्राह-मगरमच्छ है। आग्रह छूटने पर रसग्रह होता है॥

अत्रैव नवधाभक्तौ शास्त्रान्तरनिदर्शिताः ।
अन्तर्भूताः परिज्ञेया भक्तिभेदा यथायथम् ॥ २३७ ॥
तथा हि महतां सङ्गः सेवादिः पादसेवने ।
कीर्त्तनादौ कथालापादिरन्तर्भवतीति दिक् ॥ २३८ ॥

अन्य भक्तिभेद इस नवधाभक्तिमें ही अन्तर्भूत होते हैं। जैसे "सतां संगतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम् । द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम्" इत्यादि रामायणश्लोकमें कहा गया सत्संग पादसेवनमें और कथालापादि कीर्त्तनादिमें अन्तर्गत है। एवं अन्य साधन भी समझें।

अथात्र नवधाभक्तौ त्रिकत्रितयमीक्ष्यते ।
तत्राद्यं चरमं च स्यात् प्रेमलक्षणसंयुतम् ॥ २३९ ॥
नामरूपादिविषयं प्रथमं त्रिकमिष्यते ।
प्रेमवार्धौ च नामादि तरङ्गसममीरितम् ॥ २४० ॥
दास्यादि भावत्रितयं रसरूपेण वर्णितम् ॥ ।
इति तत्रापि च प्रेमरूपत्वे मा विवादिषम् ॥ २४१ ॥
मध्यं त्रिकं कथंकारं प्रेमरूपं भवेदिति ।
तत्रैवाव्याप्तिदोषः स्तद्वर्ज्यं वा प्रेमलक्षणम् ॥ २४२ ॥

पूर्वपक्षः—इस नवधा भक्तिमें तीन त्रिक देखनेमें आते हैं। उनमें प्रथम 'त्रिक भगवन्नामरूपादि विषयक हैं और नामरूपादि तो प्रेमसागरके तरंगसमान होने से उन्हें भी प्रेमरूप मानना संभव है। और तृतीय त्रिक दास्यादि भावात्मक होने से वे भी रसरूप और प्रेमरूप हो सकते हैं। परं तु मध्य त्रिक प्रेमरूप किस प्रकार?। न तो वे नामादि हैं और न भाव ही। अतः उनमें भक्ति लक्षण की अव्याप्ति है। या फिर भक्तिलक्षण के वे अलक्ष्य होंगे।

किं च भक्तचरित्रादिश्रुतिश्च श्रवणं मतम्।
अथवास्य पदाम्भोजेत्युपदर्शितमानतः॥ २४३॥
न च भक्तचरित्रादि भगवन्नामरूपवत्।
वाचामगोचरं दिव्यं नित्यं वा वदितुं क्षमम्॥ २४४॥

और भक्तचरित्रादि श्रवण भी श्रवण है ऐसा पहले कहा जा चुका है। भगवन्नामरूपादि के समान भक्तचरित्र तो वाणीका अविषय दिव्य नित्य नहीं कहा जा सकता।

अत्रोच्यतेऽर्चनाद्यैर्हि भगवद्व्यक्तिरिष्यते।
यतः सविषयं सर्वं मन्महे ह्यर्चनादिकम्॥ २४५॥
न चार्चनमुखैर्विष्णोः कृपा व्यक्तिस्तया हरेः।
इति वाच्यं यतोऽर्चादिः कृपैव कृपयैव वा॥ २४६॥

सिद्धान्तः—अर्चनादि से भी भगवदभिव्यक्ति होती है। अर्चनादि भी सविषय हैं। यह कहना ठीक नहीं कि अर्चनादि से हरिकृपा फिर हरि की अभिव्यक्ति होती है, क्यों कि अर्चनादि स्वयं हरिकृपा है या हरिकृपासे होते हैं।

मनोवृत्त्यैव भगवद्व्यक्तिरित्यसमञ्जसम् ।
जिह्वादिवृत्तिभिर्नामप्रभृतेर्व्यक्तिदर्शनात् ॥ २४७ ॥
अर्चनादिभिरप्येवं समभिव्यज्यते हरिः ।
अभिव्यङ्ग्याभिन्नतया वृत्तौ तत्त्वमुदीर्यते ॥ २४८ ॥

मनोवृत्ति से ही भगवानकी अभिव्यक्ति होती है ऐसा कोई नियम नहीं है जिह्वादिवृत्ति से नामादिकी अभिव्यक्ति होती है और नामादि भगवद्रूप ही है यह पहले कहा जा चुका । इसी प्रकार अर्चनादि से भी हरिकी अभिव्यक्ति होती है अभिव्यञ्जक अभिव्यङ्ग्य की एकता से अर्चनादि भी भगवद्रूप और भक्तिरूप है ॥ २४७-२४८ ॥

मनसः क्वापि वृत्तिः स्यात् क्वापि बुद्धीन्द्रियस्य सा ।
वचसः क्वापि सा क्वापि कर्मेन्द्रियचयस्य सा ॥२४९॥
स्नेहदास्यादिषु त्वाद्या श्रवणादौ तथेतरा ।
कीर्त्तनादौ तृतीया स्याच्चतुर्थी चार्चनादिषु ॥ २५० ॥
व्यङ्ग्यं प्रेमैव सर्वत्र दिव्यभेदान्वितं परम् ।
ततोऽमृतस्वरूपत्वं सर्वत्रैव व्यवस्थितम् ॥ २५१ ॥

भगवदभिव्यञ्जक वृत्तियाँ कहीं मनकी, कहीं ज्ञानेन्द्रियोंकी, कहीं वाणीकी और कहीं कर्मेन्द्रियोंकी होती हैं । दास्य वात्सल्यादिमें मनकी श्रवणादिमें ज्ञानेन्द्रियोंकी कीर्त्तनादिमें वाणीकी और अर्चनादिमें कर्मेन्द्रियोंकी होती हैं । सर्वत्र अभिव्यङ्ग्य तो प्रेम ही है । प्रेमका अनन्तभेद हैं अतः सर्वत्र भिन्नाभिव्यक्ति होती है । फलतः श्रवणादि सबमें अमृतत्व सिद्ध होता है ॥ २४९-२५१ ॥

दिव्यभक्तचरित्रादि लीलान्तर्गतमेव तत्।
अन्यभक्तचरित्रादावौपचारिकभक्तिता ॥ २५२ ॥

भक्त भी दिव्य तथा लौकिक दो होते हैं। दिव्यभक्त-चरित्र भगवतलीलान्तर्गत है। अन्यभक्तचरित्रमें औपचारिक भक्तित्व है ॥ २५२ ॥

ज्ञानेनापि परं ब्रह्म प्रकाश्यं रसविग्रहम्।
सामान्यरसमात्रं तु मुक्तस्य व्यज्यते ततः ॥ २५३ ॥

ज्ञान से भी रसविग्रह ब्रह्म ही प्रकाश्य है। तथापि ज्ञानसे सामान्यरस मात्रकी अभिव्यक्ति होती है ॥ २५३ ॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ २५४ ॥
तावत्त्वकथनेनात्र दिव्यभेदाः प्रसूचिताः।
ब्राह्मणो ब्रह्मभक्तोऽत्र विजानत्पदसत्त्वतः ॥ २५५ ॥

गीताः--वापीकूपादिमें जितना अर्थ सिद्ध होता है सभी जिस प्रकार महाजलाशयमें सिद्ध होते हैं उसी प्रकार समस्त वेद (कर्म उपासनादि) के अर्थ ज्ञानी ब्रह्मण को प्राप्त होते हैं। यहाँ तावान से अर्थ (फल) में अनन्त भेद सूचित होते हैं। ब्राह्मणपदका भी ब्रह्मज्ञानी अर्थ नहीं। क्यों कि विजानतः यह साक्षात्कार ज्ञानबोधक शब्द अलग पढा गया है। किन्तु ब्रह्मभक्त अर्थ है।

दिव्यनानारसाऽव्यक्तेर्मोक्षस्यैकरसात्मताम्।
ज्ञानिनो जगदुः सन्तः स्वानुभूत्यनुसारतः ॥ २५६ ॥

मोक्षमें दिव्यनानारसोंकी अभिव्यक्ति नहीं होती।

इस लिये ज्ञानी संत अपनी अनुभूति के ही अनुसार मोक्ष को एकरस बताया ॥ २५६ ॥

वाच्यभेदनिरासित्वादद्वैतश्रुतिसंगतिः ।
निःसामान्यविशेषत्वं लौकिकप्रतियोगिकम् ॥ २५७ ॥

'नेह नाना' 'एकमेवाद्वितीयं' आदि श्रुति वाच्य (शब्द विषय) भेदका ही निरास करती और कर सकती है। दिव्यभेदका नहीं। लौकिक सामान्यविशेषभावका ही निर्विशेषश्रुति निराकरण करती और कर सकती है।

विशेषतो रसव्यक्तिः प्रेममात्रनिबन्धना ।
रसाभिव्यञ्जकत्वस्य लोकेऽप्यत्रैव दर्शनात् ॥ २५८ ॥

भजन्ते विग्रहं कृत्वा मुक्ता अपि च लीलया ।
इत्येवं भाष्यकारोक्तिस्तत एवोपपद्यते ॥ २५९ ॥

मोक्षमें सामान्यरसाभिव्यक्ति होती है विशेषरसाभिव्यक्ति भक्ति से ही होती है। लोकमें भी विशेषतः रसप्रकाश प्रेम से ही देखा जाता है। अत एव भाष्यकारका यह वचन कि मुक्त भी लीलया शरीर बनाकर भगवद्भजन करते हैं, संगत होता है। विशेष रसाभिव्यक्त्यर्थं वह उचित ही है ॥ २५८-२५९ ॥

यदि वा न परज्ञानपराभक्त्योर्भिदा मता ।
भक्तौ ज्ञाने न भेदोऽस्तीत्येवं शैवेऽपि दर्शनात् ॥२६०॥

ज्ञानसाधनतो ज्ञाने जाते भक्तिः प्रवर्त्तते ।
भक्तिसाधनतो भक्तौ बुद्धियोगं ददाति सः ॥ २६१ ॥

सालोक्यादिपरं भाष्यमित्यतो भाष्यसंगतिः ।
दिव्येऽचिन्त्ये च भेदानां चिन्तना निष्प्रयोजना ॥२६२॥
लोकोत्तरत्वमात्रेण पुरुषार्थव्यवस्थितिः ।
इत्यङ्गीक्रियते तर्हि ह्ययं स्यादशयो मुनेः ॥ २६३ ॥
भक्तिः साधनकालेऽपि प्रेमरूपा तृषात्मिका ।
जनान् स्वमभिकर्षन्तो निशायासं प्रवर्धते ॥ २६४ ॥
नित्यानन्दरसात्मत्वात्पुमर्थपरमाऽपि सा ।
सर्वसाधारणी चेति सर्वार्थाय प्रकथ्यते ॥ २६५ ॥

अथवा यह सिद्धान्त मानें कि पराभक्ति और परज्ञानमें भेद नहीं है । शिवपुराणमें वैसा ही वताया भी है। ज्ञानसाधन से ज्ञान उत्पन्न होने पर भक्ति आप ही होगी। भक्ति साधन से भक्ति होने पर ज्ञान भगवान देते हैं। सालोक्यादिमुक्तिवाला शरीर धारण कर भजन करता है यह भाष्यकाराशय है । अचिन्त्यमें भेदचिन्तन निष्प्रयोजन है । लोकोत्तर होने मात्र से पराभक्ति की पुरुषार्थता सिद्ध है। तो देवर्षि नारदका यहाँ यह अभिप्राय वर्णन करना चाहिये कि भक्ति साधन कालमें प्रेमरूप है। वह प्यास होने से अपनी ओर आकर्षण कर स्वयं बढती रहेगी । नित्यानन्दरस होने से पुरुषार्थ भी है सर्वसाधारण भी है अतः सर्वोपकारार्थ भक्ति को व्याख्या करता हूँ।

दिव्यानन्तरसात्मा च परात्मा प्रेमविग्रहः ।
भक्तिः साऽमृतरूपेति भक्तिसिद्धान्तसंग्रहः ॥ २६६ ॥

संक्षिप्त भक्ति सिद्धान्त यह कि परमात्मा दिव्य

अनन्तरसस्वरूप है, प्रेमविग्रह है वही अमृतरूप भक्ति है ॥ २६६ ॥

त्रिसूत्र्याऽऽकलितः सम्यग् भक्तिसिद्धान्तसंग्रहः ।
विवृत्य सूत्रकारेण स चाग्रे वर्णयिष्यते ॥ २६७ ॥

ॐ

तीन सूत्रोंमें सूत्रकारने भक्ति सिद्धान्त संग्रह किया । उसका वर्णन अब आगे होगा ।

इति भक्तिस्वरूपलक्षणप्रकरणं द्वितीयम् ॥

॥ इति त्रिसूत्रीवार्त्तिकम् ॥

ॐ

भक्तिमाहात्म्यमधुना प्राह भक्तप्रशंसया ।
भक्तौ प्रवृत्तयेऽन्येषां लिङ्गरूपं फलात्मकम् ॥ १ ॥

भक्तिमें प्रवृत्त कराने के लिए अब भक्तों की प्रशंसा द्वारा लिङ्गरूप और फलात्मक भक्ति महात्म्य कहते हैं ।

किं च साधनशैथिल्यं मा भूत्साधनवर्तिनाम् ।
अविपक्वकषायाणामिति तत्फलमीर्यते ॥ २ ॥

और जो भक्तिमें प्रवृत्त हैं ऐसे साधकोंमें भी कहीं साधनामें शैथिल्य न आवे एतदर्थं भक्तिफल बताया जा रहा है ।

अथवा सिद्धभक्तीनां यानि लिङ्गानि तानि हि ।
साधकानां साधनानि क्रियामाणानि यत्नतः ॥ ३ ॥

अथवा भक्तों के चिह्न साधकों के लिए साधन होते हैं । जब वे प्रयत्न से किये जाते हैं ।

सिद्धत्वममृतत्वं च नैव यद्यपि साधनम् ।
तथापि तदनाकाङ्क्षा स्वयंप्राप्तेर्विवक्षिता ॥ ४ ॥
सिद्ध्यादिर्माभिलष्यन् हि योगादौ संप्रवत्स्र्यति ।
तदनकाङ्क्षिणः शुद्धा भक्तिरुक्ता प्रजायते ॥ ५ ॥

यद्यपि अग्रिम सूत्रोक्त सिद्धत्व और अमृतत्व साधन नहीं हो सकते । तथापि भक्तों को वह स्वयं प्राप्त होता है अतः उसमें आकाङ्क्षा न करो यह तात्पर्य है। क्यों कि सिद्धत्व अमृतत्वादि की आकाङ्क्षा होने पर योग ज्ञानादिमें प्रवृत्ति होगी तब शुद्ध भक्ति नहीं होगी । और सिद्धि आदि की इच्छा न होने पर शुद्ध भक्ति होगी ।

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति ॥ ४ ॥

जिसको प्राप्त होकर मनुष्य सिद्ध होता है, अमृत होता है और तृप्त होता है ।

यत्पदेनात्र परमं प्रेम पूर्वोक्तमुच्यते ।
भक्तिर्वा यत्पदेनोक्ता सामान्ये तु नपुंसकम् ॥ ६ ॥

सूत्रमें यत्पद से पूर्वोक्त परम प्रेम गृहीत होता है। अथवा मुख्यतया पूर्वोक्त भक्ति का ग्रहण है । द्वितीय पक्षमें "सामान्ये नपुंसकम्" से नपुंसक प्रयोग है ।

अस्मिन्नितिपदप्रोक्तो भगवानत्र गृह्यते ।
प्राप्तेरवश्यंभावित्वात्प्राप्येत्युक्तिरितीतरे ॥ ७ ॥

कुछ लोग-यत्पदसे अस्मिन् पद से निर्दिष्ट भगवान परब्रह्म विवक्षित है। भक्ति प्राप्तिसाधन है उससे

परमेश्वर अवश्य प्राप्त होता है अतः 'प्राप्य' यह कथन संगत है ऐसी व्याख्या करते हैं।

अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः ॥ ८ ॥
लुठन्ति सिद्धयो भक्तचरणाम्बुजकोरके।
न ताश्चाद्रियते भक्तः स्वयमप्युपसंगताः ॥ ९ ॥

भक्त चरणमें अणिमादि आठ सिद्धियाँ लोटती हैं। पर स्वयं आगत भी सिद्धियोंका भक्त आदर नहीं करता।

संकल्पलेशसुषिरमुपलभ्य कदाचन।
आविशन्ति हि भक्तं तास्ततः सिद्धत्वमुच्यते ॥ १० ॥
सिद्धीः स्वाः समभिज्ञाय मा स्म नोऽसौ जहादिति।
भीतभीताः प्रवर्तन्ते भक्तेषु किल सिद्धयः ॥ ११ ॥
दुःखिनो वीक्ष्य यतयः करुणावरुणालयाः।
आशासते तत्सुखाय तदा सिद्धिः प्रवर्तते ॥ १२ ॥

कभी थोडा भी संकल्प हुआ तो उसी सुराक से भक्त में सिद्धियाँ प्रविष्ट होती हैं। तब वह सिद्ध कहलाने लगता है। हमें सिद्धि पहचानकर छोड न दे इस प्रकार भयभीत सी सिद्धियाँ भक्तोमें रहती हैं। दुखियों को देखकर दयालु यति उनके सुखकी आशा करते हैं तब सिद्धि धीरे २ अपना काम प्रारंभ करती है।

अथवा भगवानेव प्रार्थ्यमानानि साधयन्।
सिद्धिरूपेण भक्तेषु नित्यं तिष्ठति माधवः ॥ १३ ॥

अथवा भगवान् ही भक्तोंमें सिद्धि के रूपमें प्रार्थित अर्थ को साधते हैं।

किं च मा मेऽस्तु भक्तस्य संकल्पाधिभयादिकम् ।
इति प्रागेव भगवान् सर्वं साधयति क्वचित् ॥ १४ ॥

इससे भी आगे कहीं कहीं भगवान् पहले कार्य सिद्ध करते हैं इसलिए कि भक्त को संकल्प चिन्ता भयादि न हो ।

सिद्धत्वं परिपक्वत्वं परिपक्वकषायता ।
आमभावोऽभिमानादिस्तद्राहित्यमितीतरे ॥ १५ ॥

कुछ लोग व्याख्या करते हैं—सिद्धत्व-परिपक्वकषायता-अभिमानादि कच्चापनका अभाव ।

कर्मिणः स्वर्ग्यममृतं मोक्षश्च ज्ञानिनोऽमृतम् ।
अनिच्छतोऽपि भक्तस्य तल्लाभादमृतो ह्यसौ ॥ १६ ॥

'अमृतो भवति' इसलिए कहा कि कर्मियोंका स्वर्गीय अमृत और ज्ञानियोंका मोक्षरूपी अमृत बिना इच्छा ही भक्त को मिलता है ।

* सालोक्यसार्ष्टिसामाप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः* ॥ १७ ॥
न पारमेष्ठ्यं माहेन्द्रं सार्वभौमादिकं तथा ।
वाञ्छन्ति हरिभक्ता हि विरहय्य समञ्जसम् ॥ १८ ॥

सालोक्यादि पाँच मुक्तियाँ दिये जाने पर भी भक्त नहीं लेता, मेरे सेवन के विना भक्त क्या चाहेगा । ब्रह्मपद इन्द्रपदादि को भी भक्त भगवान् को छोडकर नहीं चाहते ॥ १८-१९ ॥

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः ।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्य चेटिकावदनुव्रताः ॥ १९ ॥

सिद्धत्वममृतत्वं च भक्तस्यानिच्छतोऽप्यतः ।
भवतस्तेन सिद्धश्चामृतश्चेत्याह सूत्रकृत् ॥ २० ॥

हरिभक्तिरूपी महादेवी के पीछे पीछे दासी के समान भुक्ति मुक्ति सिद्धि सब अनुगमन करती हैं। भक्ति की दासी समान मुक्ति आदि है अतः इच्छा न होने पर भी भक्त सिद्ध और अमृत होता है। यह सूत्रकारका आशय है ॥ १९-२० ॥

यद्वामृतस्वरूपां हि भक्तिं प्राप्य महामनाः ।
स्वयमप्यमृतोऽन्येषामानन्दरसवर्षणात् ॥ २१ ॥
तद्दर्शनात्तत्प्रसङ्गादन्ये च विमलाशयाः ।
आनन्दं भक्तिमप्यन्तेऽमृतत्वमपि चाप्नुयुः ॥ २२ ॥

अमृतो भवतिका ऐसा भी अर्थ है कि अमृतरूपी भक्ति पाने पर अन्यों पर आनन्द वर्षा करता हुआ भक्त स्वयं भी अमृतरूप होता है। भक्त के दर्शन तथा संग से दूसरे भी निर्मल चित्त होकर आनन्द को भक्ति को और अन्तमें अमृतत्व को प्राप्त होते हैं ॥ २१-२२ ॥

जीवतो म्रियमाणस्य जन्मान्तरगतस्य च ।
नैवामृतत्वहानिः स्यात्सर्वावस्थासु सर्वदा ॥ २३ ॥

जीवन मरण पुनर्जन्म आदि सर्व अवस्थामें सर्वदा भक्तमें अमृतत्व की हानि नहीं होती।

* नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः * ॥ २४ ॥

भगवत्परायण किसीसे भी नहीं डरते। वे स्वर्ग, नरक एवं मोक्षमें भी समदर्शी होते हैं।

चित्रकेतुर्हि देवर्षिसङ्गात् प्रेम हरौ वहन् ।
पार्वतीशापमाप्तोऽपि विचचाल न धीरधीः ॥ २५ ॥
पापीयसीं गतस्यापि निर्दयां योनिमासुरीम् ।
न भक्तिस्तस्य विहता वृत्राख्यां समुपेयुषः ॥ २६ ॥

राजा चित्रकेतु को देवर्षि के संग से हरिप्रेम प्राप्त हुआ फिर पार्वती के शाप से भी विचलित नहीं हुआ। निर्दय असुर पाप योनि प्राप्त होने पर भी वृत्र की भक्ति विहत नहीं हुई ॥ २६ ॥

भक्तस्यातोऽमृतत्वं हि नाऽमृत्युर्मोक्ष एव वा ।
रसैकतानतामात्रमखण्डममृताह्वयम् ॥ २७ ॥

अतः भक्तका अमृतत्व अमरण या मोक्ष नहीं है। किन्तु अखण्डरसैकतानता ही है।

भोगव्यूहेष्वलंबुद्धिस्तृप्तिरित्यभिधीयते ।
उदितानां हि कामानामुपशान्तिरितीतरे ॥ २८ ॥
उभय्यपि च भक्तेषु विस्पष्टमुपलभ्यते ।
त्यक्त्वा गृहकुटुम्बादि भिक्षुचर्यां चरन्ति ते ॥ २९ ॥

भोगोंमें अलंबुद्धि ही तृप्ति है। उत्पन्न कामों की शान्ति तृप्ति है यह मतान्तर है। उक्त दोनों ही भक्तों में देखे जाते हैं। अतएव वे गृहकुटुम्बादि छोडकर भिक्षुचर्याका ग्रहण करते हैं। "बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति" यह भ्रमरगीतश्लोक द्रष्टव्य है ॥ २८-२९ ॥

अन्ये ध्रुवादिदृष्टान्तं पुरस्कृत्य मनीषिणः ।
सर्ववैभवसंप्राप्तिप्रयुक्तां तृप्तिमूचिरे ॥ ३० ॥

कुछ लोग ध्रुवादि दृष्टान्त से सर्व वैभव प्राप्ति प्रयुक्त तृप्ति को यहाँ बताया। (परंतु यह अर्थ संगत नहीं है। भक्त को वैभव प्रयुक्त तृप्ति असंभव है अतः अन्य कहा)।

वस्तुतः खलु सर्वस्वं भक्तानां हरिरेव हि।
तत्प्राप्त्या परितृप्तास्ते नापेक्षन्तेऽत्र किंचन॥ ३१॥

विद्या च द्रविणं चैव गुरुर्दैवतमेव च।
सर्वमेव त्वमेवासि देवदेवेति ते विदुः॥ ३२॥

वस्तुतः भक्तोंका सर्वस्व हरि ही हैं। उसकी प्राप्ति से तृप्ति होने पर वे किसीकी भी अपेक्षा नहीं रखते हैं। भक्त तो त्वमेव माता च पिता त्वमेव यही समझते हैं।

तृप्तिस्तृषैव भगवद्विषयेत्यपरे जगुः।
भगवत्तृषितो नान्यत्किंचिदेव व्यपेक्षते॥ ३३॥

भगवान् के लिए प्यास ही तृप्ति है। उससे अन्य की अपेक्षा समाप्त होती है। यह भी मत है॥ ३३॥

अतृप्त्यैव परा तृप्तिरनन्तानन्तया भवेत्।
अनन्यचिन्तावसरस्वान्तस्य भजतो हरिम्॥ ३४॥

ॐ

अनन्त अतृप्ति (प्यास) से अनन्त तृप्ति होती है। अन्य चिन्तनका अवसर ही हरिभक्त को भला कहाँ?।

ॐ

इत्थं विधिमुखेनोक्त्वा लक्षणं फललक्षणम्।
निषेधमुखतः प्राह भक्तिं देवर्षिरीयुषः॥ १॥

विधिमुख से भक्तिफल बताया । अब निषेध मुख से कहते हैं ॥ १ ॥

किंवा फलांशमुख्यानि साधनानि न्यरूपयत् ।
साधनांशप्रधानानि संप्रत्याह मुनीश्वरः ॥ २ ॥

अथवा फलांशप्रधान कहकर साधनांशप्रधान अब कह रहे हैं ॥ २ ॥

यत्प्राप्य न किंचिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ॥ ५ ॥

जिसको प्राप्त कर मनुष्य कुछ चाहता नहीं, शोक नहीं करता द्वेष नहीं करता कहीं रमता नहीं और उत्साही नहीं होता ॥ ५ ॥

लाभस्त्वधिकसंप्राप्तिर्लौकिकैरवगम्यते ।
सा च पूर्णपरिप्राप्तिः पूर्वसूत्रे विवक्षिता ॥ ३ ॥

"लब्ध्वा" यहाँ लाभका अर्थ पूर्ण प्राप्ति है। क्यों कि लोकमें लाभव्ययप्रयोगमें लाभका अधिक प्राप्ति अर्थ देखा जाता है ॥ ३ ॥

यत्प्राप्येत्यधुना प्राप्तिमात्रमत्राभिधीयते ।
तत्प्राप्तिमात्रतोऽप्येव शोकाद्यतिगमो भवेत् ॥ ४ ॥

"यत्प्राप्य" इस सूत्रमें प्राप्ति मात्र कहा । प्राप्ति मात्र से भी शोकादिका अतिगम होता है ।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ ५ ॥

इति गीतासु हरिणा लक्षणं यन्निरूपितम् ।
तदत्रा नूदितं सूत्रे नारदेन महर्षिणा ॥ ६ ॥

जो हर्ष द्वेष शोक और आकाङ्क्षा से रहित है शुभाशुभ परित्यागी है ऐसा भक्तिमान् मेरा प्रिय है। इस प्रकार गीतामें बताये लक्षणका यहाँ नारदजीने अनुवाद किया ॥ ५-६ ॥

रमते हृष्यतीत्यर्थो नोत्साहीभवतीति च ।
शुभाशुभपरित्यागीत्यर्थ इत्यवगम्यताम् ॥ ७ ॥

सूत्रमें रमते और उत्साही भवति ही गीता के श्लोक में हृष्यति और शुभाशुभपरित्यागी से कहा है ॥ ७ ॥

अनुकूलार्थसंयोगमसिद्धं जन इच्छति ।
अविद्यमाने प्रबलेऽनुकूले बाधकायिते ॥ ८ ॥

अप्राप्त अनुकूलार्थ संयोग को लोग चाहते हैं । परंतु यदि प्रबल अनुकूल दूसरा न हो ।

* यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे ।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः* ॥ ९ ॥

* न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत ।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं वा आनन्त्यं वा हरेः पदम् ॥ १० ॥
कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः ।
कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः* ॥ ११ ॥
कामयामह इत्युक्तेरीषत्प्राप्तिर्हि सूच्यते ।
तावता सर्वकामानां निरोधोऽत्र निगद्यते ॥ १२ ॥

हम साम्राज्यादि की इच्छा नहीं करते। केवल भगवच्चरण रज मस्तकमें धारण करें यही हमारी इच्छा है। चरणरज चाहते हैं इस उक्ति से ईषत्प्राप्ति सूचित होती है। इतने से साम्राज्यादि कामना नष्ट हो गयी ॥११-१२॥

न कामये नाथ तद्धि त्वत्पादाब्जासवो न चेत्।
महद्दास्यच्युतं पातुं तं मे कर्णायुतं भवेत् ॥ १३ ॥

इत्यत्रापि तथैवोक्तं परिप्राप्तौ तु का कथा।
तथा च तत्रतत्रेदं विस्पष्टं समुदीरितम् ॥ १४ ॥

न कामये नाथ इत्यादि भागवत श्लोकमें कहा है कि हे भगवन्! आपका चरण कमल मधु न हो तो मुझे कुछ नहीं चाहिए। हाँ इस मधु को पीने के लिए हजारों कान हो यही वर दो। पूर्व श्लोकमें भी ईषत्प्राप्ति है। पूर्ण प्राप्ति हो तो कहना ही क्या है। यह बात तत्र तत्र बतायी भी है ॥ १३-१४ ॥

* सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः* ॥ १५ ॥

मत्पादसेवाभिरता नैकात्म्यं स्पृहयन्ति मे।
सभाजयन्ते येऽन्योन्यं पौरुषाणि मम प्रियाः ॥ १६ ॥

पारमेष्ठ्यं स्वराड्धिष्ण्यं सार्वभौमं रसेशताम्।
योगसिद्धीर्विमुक्तिं वा नेच्छेन्मय्यर्पिताशयः ॥ १७ ॥

* अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव* ॥ १८ ॥

आकाङ्क्षा नैव मोक्षस्य वाञ्छा न विभवस्य मे ।
इत्याहाचार्यपादोऽपि भक्तस्येच्छावरोधनम् ॥ १९ ॥

न मोक्षस्याकाङ्क्षा भवविभववाञ्छापि च न मे इस देवी स्तुतिमें आचार्यों ने भी भक्त को इच्छाका अभाव बताया है ॥ १९ ॥

सदर्थपरिपूर्णे हि भक्तानां मानसाङ्गणे ।
असदर्थनिवेशस्तु नैव संभाव्यते क्वचित् ॥ २० ॥

भक्तों के सदर्थ पूर्ण मानसमें भला असदर्थका निवेश कैसे हो ॥ २० ॥

संत्यज्य सर्वविषयान् हरिपादमुपागताः ।
कथं वान्ताशितान्यायमनुगच्छन्तु तज्जनाः ॥ २१ ॥

"संत्यज्य सर्वविषयान् तव पादमूलं प्राप्ताः" इत्यादि गोपीवचनानुसार त्यक्तविषयोंकी पुनर्ग्रहणार्थ इच्छा तो वान्ताशितान्याय से भक्तोंमें नहीं हो सकती ।

स्वतः सिद्धं तु सिद्धानां सर्ववाञ्छावरोधनम् ।
साधनं साधकानां तत्तथा ह्याह हरिः स्वयम् ॥ २२ ॥
* इमं लोकं तथैवामुमात्मानमुभयायिनम् ।
आत्मानमनु ये चेह ये रायः पशवो गृहाः ॥ २३ ॥
विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेकं विश्वतोमुखम् ।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरतिपारये ॥ २४ ॥

सिद्ध भक्तोंमें इच्छाका अभाव स्वतः सिद्ध है । वही साधकों के लिये साधन है । भगवान् ने भी कहा है । इह परलोक, उभयगामी आत्मा, आत्मार्थ धन, पशु, दार

सब को त्यागकर अनन्य भक्त्या जो मेरा भजन करते हैं उनको मैं मृत्यु से पार पहुँचाता हूँ।

विसर्जनमिहेच्छायास्त्यागः साधनमीर्यते।

त्यागेऽपि भगवद्भक्तिरेव साधनमिष्यते ॥ २५ ॥

इहलोकादिका त्याग यहाँ इच्छात्याग ही है। और वह साधन के रूपमें कहा गया है। परंतु इच्छात्यागमें भी साधन भक्ति ही है।

* प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुनेः।

कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते* ॥ २६॥

इत्यत्र स्पष्टमुक्तं तत् न चान्योन्याश्रयो भवेत्।

यतो हि निरपेक्षत्वं भक्तेरन्यच्च दर्शितम् ॥ २७ ॥

उक्त भक्तियोगसे मेरा भजन करने पर मैं उस मुनि के हृदयमें वास करता हूँ। फलतः उसके सभी काम नष्ट होते हैं। यहाँ उक्त बात स्पष्ट हो जाती है। भजन कामनाशक और कामनाश भक्तिसाधक इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष पहले ही वारित हो चुका है। प्रथम सूत्रमें भक्तिकी निरपेक्षता एवं अन्यान्य बातें बतायी गयी हैं।

शोकोऽनुकूलनाशोत्थस्तत्संभावनया क्वचित्।

गतासूनगतासूंश्चेत्येवं गीतासु भाषणात् ॥ २८ ॥

अनुकूल के नाश से और कहीं नाशसम्भावना से भी शोक होता है। अत एव गीतामें गतासूनगतासूंश्च इन दोनोंका ग्रहण समंजस है ॥ २८ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे हरिभक्तो न शोचति ॥ २९ ॥

उत्पन्नका मरण और मृतका जन्म निश्चित है । अतः अपरिहरणीय अर्थ के लिए भक्त शोक नहीं कर सकता ।

संयोगो विप्रयोगान्तो दुःखान्तं सुखमेव च ।
जीवितं मरणान्तं च न भक्तस्तत्र शोचति ॥ ३० ॥

संयोग विप्रयोगान्त है सुख दुःखान्त है । जीवन मरणान्त है । इसमें भक्त शोक नहीं करता ॥ ३० ॥

हरेरिच्छैव संयोगे वियोगे जीवने मृतौ ।
सुखे दुःखे च हेतुस्तत्प्रसीदति सदा मुनिः ॥ ३१ ॥
हरिभक्तो हरीच्छायां न प्रसीदेत्कथं नरः ।
तस्मात्सर्वास्ववस्थासु न शोचति हरिप्रियः ॥ ३२ ॥

संयोग वियोगादिमें हरीच्छा ही कारण है अतः भक्त सदा प्रसन्न रहता है । हरि भक्त हरिकी इच्छामें प्रसन्न क्यों न हो । अतः हर अवस्थामें वह शोक नहीं करता ।

* यथा प्रयान्ति संयान्ति स्रोतोवेगेन वालुकाः ।
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः* ॥ ३३ ॥
* भूतैर्भूतानि भूतेशः सृजत्यवति हन्त्यजः ।
आत्मसृष्टैरस्वतन्त्रैरनपेक्षोऽपि बालवत्* ॥ ३४ ॥

प्रवाह से बालू संयुक्त वियुक्त होते हैं । प्राणियों को पञ्चभूतों से भगवान् उत्पन्न करते रक्षा करते और नष्ट भी करते हैं । वे पञ्चभूत परतन्त्र हैं । और भगवान् भी बालक के समान खेल करते हैं ॥ ३३-३५ ॥

हरीच्छाया बलीयस्त्वात्तत्प्राप्तिपरिहारयोः ।
न यतन्ते न शोचन्ति तथा च भगवद्वचः ॥ ३५ ॥

* सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः* ॥३६॥

वस्तुओं की प्राप्ति और परिहारमें हरीच्छा बलवान् होने से भक्त न यत्न करता है न शोक करता है। यही भगवान् भी कहते हैं–हे अर्जुन सर्व धर्म छोडकर मेरी शरणमें आजाओ मैं सर्व पाप से तुम्हें मुक्त करुँगा। तुम शोक न करो।

द्वेषः प्रज्वलनप्रख्य आशयाशो बुधैः स्मृतः।
हरिस्तिष्ठापयिषितो यत्र तं ज्वलयेन्नु कः॥ ३७॥

द्वेष अग्नि है आश्रयाश है। जहाँ हरि को रखना है उसी आश्रय को कौन जलाएगा।

लीलार्थं हरिणा सृष्टं सर्वं दृश्यमिदं जगत्।
तदीयं को हि तद्भक्तो द्वेष्टुमर्हति कोविदः॥ ३८॥

यह जगत् भगवानकी लीलारचित है। भगवानका है तब उससे हरिभक्त कैसे द्वेष करेगा।

प्रेम प्रवर्त्तमानं हि नैव संकोचमर्हति।
तत्स्थं तदीये प्रसरद् द्वेषमुन्मूलयेद्ध्रुवम्॥ ३९॥

प्रेम न्यून नहीं होता भगवत्स्थित भगवदीयमें प्रसरित होकर द्वेषका वह उन्मूलन करेगा।

उदारचरितानां च वसुधैव कुटुम्बकम्।
इत्येवमभियुक्तोक्तेर्भक्तो न द्वेष्टि कंचन॥४०॥
चतुर्विधा भजन्ते मामित्युपक्रम्य केशवः।
उदाराः सर्वं एवैत इत्याह भजतः स्फुटम्॥४१॥

घ्नन्तं तातं तथा कृत्याप्रेषिणौ गुरुपुत्रकौ ।
प्रह्लादो नैव विद्वेष्टि सन्तोऽन्ये बहवस्तथा ॥ ४२ ॥

उदारचरितों के लिए वसुधा ही कुटुम्ब है । इस आप्तवचनानुसार भक्त किसीसे द्वेष नहीं कर सकता । क्यों कि भक्त उदार ही होते हैं यह बात गीतामें स्पष्ट है । अपने प्राणापहारक पिता हिरण्यकशिपु के तथा कृत्या छोडनेवाले गुरुपुत्र शंड अमर्क के प्रति प्रह्लादने द्वेष नहीं किया ऐसे अनेक सन्तों के उदाहरण हैं ॥ ४०-४२ ॥

प्रियवस्तुपरिप्राप्तौ चित्तव्याकोचनं तु यत् ।
स हर्षः क्षणपर्यन्तः प्रियवृत्तेस्तथात्वतः ॥ ४३ ॥
हर्षं रमतिनानूद्य न्यषेधदिह नारदः ।
अनित्ये रमते वा यो न स नित्यमवाप्नुयात् ॥ ४४ ॥

प्रिय वस्तुकी प्राप्तिमें जो चित्त खिलता है वह हर्ष है वह क्षणिक होता है । क्यों कि प्रियाकार वृत्ति क्षणिक होती है । हर्षको रम् धातु से अनुवाद कर उसका निषेध नारदजीने किया । अनित्यमें रमने वाला नित्य प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ४४ ॥

सन्तं समीपे रमणं विहायाहो रतिप्रदम् ।
तुच्छं भजेऽज्ञा दुःखादिप्रदमित्याह पिङ्गला ॥ ४५ ॥

"सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं" इस प्रकार भगवान् को छोडकर तुच्छ की रति चाहनेवाली पिङ्गला अपने को धिक्कारती है ॥ ४५ ॥

बाल्ये क्रीडानकासक्तो रतो मातृभुजान्तरे ।
यौवने विरतस्तस्माद्दारादौ रमते नरः ॥ ४६ ॥

स्वर्गादपि गरीयस्या जनन्या हि भुजान्तरम् ।
न संस्प्रष्टुमपीच्छन्ति युवानस्तरुणीरताः ॥ ४७ ॥
इत्थमस्थिररूपत्वं रतेर्वीक्ष्य मनस्विनः ।
क्षणभङ्गुररूपां तां न रतिं समशिश्रियन् ॥ ४८ ॥

बाल्यावस्थामें खिलौनेमें आसक्त था माता की गोद में रमता था । वह यौवनमें उससे विरत हो गया और दारधनादिमें रमने लगा । स्वर्ग से भी गरीयसी माताकी गोद युवा होने पर छूना भी पसन्द नहीं करता । इस प्रकार रति को अस्थिर देखकर उस क्षणभङ्गुर रतिका आश्रयण विवेकियोंने नहीं किया ।

लोकद्वयसुखप्रेप्सुः शुभायोत्सहते बुधः ।
इहलोकसुखेप्सुश्चाशुभायोत्सहते जडः ॥ ४८ ॥
तृणीकृतविमोक्षान्तसर्वलोकसुखः कृती ।
उत्सहेत हरेर्भक्तः किमपेक्ष्य शुभाशुभे ॥ ५० ॥

इह पर सुखार्थी विद्वान् शुभकार्य के लिए उत्साह रखता है । जडमति इस लोक के सुखार्थ अशुभ करता है । मोक्षपर्यन्त सर्वलोक को तृण समान माननेवाला हरिभक्त किसकी अपेक्षा से शुभाशुभमें प्रवृत्त होगा ।

* ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः ।
मत्परा श्रद्धानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ॥ ५१ ॥
भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि* ॥ ५२ ॥
इत्येवं गारुडोक्तेश्च लब्धभक्तेर्महात्मनः ।
अन्यावशेषविरहादनुत्साहः सुयुज्यते ॥ ५३ ॥

भगवत्कथाश्रवणादि से भक्ति प्राप्त होती है। मुझ अनन्त गुण आनन्दब्रह्ममें भक्ति हो गयी तो बाकी क्या रह गया। इस गरुड पुराण वचन से भक्तका अनुत्साह उचित है।

न धनं न जनं नैव यौवनं कवितामुत।

कामयेऽहमिति ध्वस्तकाम उत्सहतां क्व वा ॥ ५४ ॥

न धनं न जनं न यौवनं इत्यादि गौराङ्ग वचनानुसार सर्वकामशून्य मनुष्य उत्साह रखेगा भी कहाँ?।

अत्रेशदर्शने वाञ्छा मानादौ द्वेष एव च।

शोकोऽभक्तजनान्वीक्ष्य पूजादौ रतिरेव च॥ ५५ ॥

ईशतद्भक्तसेवासु नित्यमुत्साह एव च।

भक्तभूषणरूपत्वादव्यावर्त्यं परे जगुः ॥ ५६ ॥

ॐ

इस सूत्रमें लौकिक वाञ्छादि की ही व्यावृत्ति इष्ट है। ईश्वरदर्शनेच्छा, मानादिद्वेष, अभक्तजनों के लिए शोक, पूजादिरति, ईश्वर और भक्तजनकी सेवामें उत्साह ये भक्तोंका भूषण होने से अव्यावर्त्य है। ऐसे कुछ मनीषी मानते हैं।

ॐ

प्रेम्णः पूर्णपरिप्राप्तौ सिद्धत्वं समुदीरितम्।

नैव साधनसापेक्षः कृतकृत्यो ह्यसौ यतः ॥ १ ॥

प्रेमकी पूर्ण प्राप्ति ही लाभ है। उससे पुरुष सिद्ध होता है। अर्थात् कृतकृत्य होने से साधनापेक्षा नहीं रह जाती ॥ १ ॥

अत एवामृतत्वादि यतो वेत्यपि दर्शितम् ।
प्राप्तिमात्रेऽपि वाञ्छादेरत्ययोऽथ प्रदर्शितः ॥ २ ॥

सिद्ध होने ही से अमृत और तृप्त हैं। अथवा चूंकि वह अमृत और तृप्त है अतः वह सिद्ध है। इस प्रकार अन्योन्य हेतुहेतुमद्भाव से सिद्धत्वादि दिखाया। उसके बाद प्रेमकी प्राप्ति मात्र से वाञ्छादिका अतिगम दिखाया।

प्राकट्यमात्रतः किं स्यादित्येतदधुनोच्यते ।
आद्ये तद्रूपता, योगो द्वितीये, व्यञ्जनान्तिमे ॥ ३ ॥

अब प्रेम के प्रकट होने मात्रसे क्या होता है यह बताते हैं। प्रथममें प्रेम के साथ तद्रूपता होती है। द्वितीय में प्रेमका संयोग मात्र प्रतीत होता है। तृतीयमें प्रेमकी अभिव्यक्ति मात्र समझना चाहिये ॥ ३ ॥

गायन् विलज्जो विचरेदिति वाक्ये च लिङ्श्रुतेः ।
साधनत्वं च मत्तत्वप्रभृतावुपपद्यते ॥ ४ ॥

"गायन् विचरेत्" यहाँ लिङ् श्रवण होने से मत्तत्वादिकी साधनता भी अवगत होती है ॥ ४ ॥

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति ॥ ६ ॥

जिसको जानकर मनुष्य मत्त होता है स्तब्ध होता है आत्माराम होता है ॥ ६ ॥

अत्राभिव्यक्त्यभिप्रायेण ज्ञात्वेति मुनिरब्रवीत् ।
यद्वाऽप्राप्तार्थसंयोगलक्षणप्राप्त्यसंभवात् ॥ ५ ॥

अभिव्यक्ति अर्थ के अभिप्राय से यहाँ ज्ञात्वा कहा

अथवा अप्राप्त वस्तु संयोगरूपी प्राप्ति प्रेमकी असंभव है अतः ज्ञात्वा कहा ॥ ५ ॥

अखण्डमपरिच्छिन्नमाच्छन्नं प्रेम मायया ।
समभिव्यज्यते प्रेमवृत्त्येत्येतत्पुरोदितम् ॥ ६ ॥

प्रेम अखण्ड और अपरिच्छिन्न है। वह माया से आच्छादित है वह प्रेमवृत्ति से अभिव्यक्त होता है यह पहले कह आये हैं ॥ ६ ॥

परे तु लाभः प्राप्तिश्च प्रेम्णो ज्ञानान्न भिद्यते ।
इत्यावेदयितुं शब्दभेदेन परिकीर्त्तनम् ॥ ७ ॥

अन्य महापुरुष इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि प्रेम की प्राप्ति या लाभ उसके ज्ञान से अतिरिक्त नहीं है। यह बताने के लिए लब्ध्वा प्राप्य और ज्ञात्वा इस प्रकार शब्दभेद किया है।

शोकादिपञ्चकाभावः सिद्धादेर्नान्तरीयकः ।
मत्तता स्तब्धता चेमे बाह्यलक्षणवत् स्थिते ॥ ८ ॥
आत्मारामत्वमन्त्यं च सर्वेषां परमं फलम् ।
इति सूत्रत्रयेणोक्तिश्चाञ्जसीत्याचचक्षिरे ॥ ८ ॥

सिद्धत्व अमृतत्व और तृप्तत्व के साथ अवश्यंभावी उनका फल शोकादिका अभाव है। अतः उसे पृथक् सूत्र से कहा। मत्तता और स्तब्धता बाह्यलक्षण होने से उससे पृथक् करके बताया आत्मारामता तो सबका परम फल है अतः साथमें जोड दिया इस प्रकार पृथक् तीन सूत्रों से कथन करना उपपन्न है।

मत्त उन्मत्त इत्यर्थो व्रजगोप्यो निदर्शनम् ।
अन्तर्हिते भगवति रासलीलाविहारिणि ॥ १० ॥
* इत्युन्मत्तवचोगोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः ।
अनुचक्रुर्भगवतो लीला* इत्यादि दर्शनात् ॥ ११ ॥

मत्तका उन्मत्त अर्थ है रासलीलामें भगवान् के अन्तर्धान होने पर गोपिकाओं का उदाहरण आता है । इस प्रकार उन्मत्त वाणी बोलती हुई कृष्णान्वेषण तत्पर गोपिकायें भगवान् की लीलाओं का अनुकरण करने लगी इत्यादि वहाँ बताया है ।

* क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः ।
क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित् ॥ १२ ॥
नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित् ।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह* ॥ १३ ॥
इत्यादावपि संक्षेपादुन्मत्तत्वं प्रदर्शितम् ।
तत्तद्भावानुभावेन तथा ह्येतद्विवृण्महे ॥ १४ ॥

कहीं भगवच्चिन्तनमें तन्मय होकर रोता है, कहीं हँसता है, कहीं गाता है, कहीं नाद करता है, कहीं नाचता है, कहीं अनुकरण करता है । इत्यादि वाक्योंमें संक्षेपमें उन्मत्तता बतायी गयी है । उसीका थोडा हम विवरण करते हैं ।

* युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम् ।
शून्यायितं जगत्सर्वं श्रीकृष्णविरहेण मे* ॥ १५ ॥
इत्युक्तेः क्वचन त्यक्त्वा यान्तं समनुभूय च ।
भगवन्तं विरहतो रोदित्यश्रुकुलाकुलः ॥ १६ ॥

भगवद्विरहमें क्षण युग हो गये नेत्र चौमासा हो गया। जगत् शून्य हो गया। इस कथन के अनुसार और कहीं जाते हुये भगवान् को देखकर विरही भक्त रोता है।

नवनीतं मुषित्वाथ द्रवन्तं भीतभीतवत्।
जरठां चानुधावन्तीं दृष्ट्वा ध्याने हसत्यसौ॥ १७॥

माखन चुराकर डरते डरते भागते कृष्णको और पीछे दौडती बुढियाको ध्यानमें देखकर भक्त हँसता है।

विक्रेतुकामा क्रय्याणि गच्छन्ती कृष्णमानसा।
श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरार इति गायति॥ १८॥

दही बेचने निकली है और दही लो बोलनेकी जगह कृष्णमनस्क होने से श्रीकृष्ण गोविन्द गा रही है।

अमुष्माद्रावणः सीतामिति श्रुत्वा कथां नृपः।
अगर्जत्तन्मयः सूत धनुर्लाह्याशु भो इति॥ १९॥

रावणने सीताको चुराया यह कथा सुनकर तन्मय कोई राजा गरजकर कहता है:—हे सूत! धनुष लाओ।

निलीयमानमपि च हरिं संवीक्ष्य तन्मनाः।
वीक्षितो वीक्षितो देव इति नृत्यति हर्षतः॥ २०॥

भगवान् में मन लगा हुआ है। देख रहा है कि भगवान् छिपकर बैठे हुये हैं। फिर भी देख लिया। इस खुशीमें देखा देखा कहकर भक्त नाचता है।

एषा दिगन्यथाप्येव हासरोदादिसंभवात्।
दशान्तरमपि स्पष्टमुन्मत्तस्योपलभ्यते॥ २१॥

यह एक दिग्दर्शन मात्र है अन्य प्रकार से भी रोदनादि सभव है और उन्मत्तकी अन्यान्य दशाएं भी होती हैं।

* भावोन्मत्तो हरेः किंचिन्न वेद सुखमात्मनः ।
दुःखं चेति महेशानि परमानन्दसंप्लुतः* ॥ २२ ॥

हे पार्वति! मैं भावोन्मादमें गोता लगाता हुआ न सुख जाना और न दुःख ही जाना ।

राधां मार्गयते राधा कृष्णभावनभाविता ।
कृष्णं मार्गयते कृष्णो राधाभावनभावितः ॥ २३ ॥

कृष्ण भावना से कृष्णाकार होकर राधा राधा को ही ढूँढ रही है। राधा भावना से राधारूप होकर कृष्ण कृष्ण को ही ढूँढ रहे हैं ।

मत्तो हृष्ट इति ह्येके मदी हर्ष इति स्मृतेः ।
प्रेमासवमदोन्मत्त इत्यर्थमपरे जगुः ॥ २४ ॥
नृत्यत्युन्मत्तवल्लोकबाह्य इत्यत्र चेदृशम् ।
मदमत्तत्वमेवोक्तमित्यप्येते प्रमिण्वते ॥ २५ ॥

मत्तका हृष्ट अर्थ है 'मदी हर्षे' यह धातु पाठ है ऐसे कुछ लोग मानते हैं। प्रेमासव के नशे से मत्त है ऐसा अर्थ अन्य मनीषी करते हैं। उन्मादवन्नृत्यति लोक बाह्य इस भागवत वाक्यमें मदमत्तत्व ही विवक्षित है। उनका ऐसा मत है।

स्तम्भो वागादिराहित्यं नैश्चल्यं शून्यताद्यपि ।
अनिमेषदृगादित्वमपि तत्रावलोक्यते ॥ २६ ॥

बोल चाल बंद होना निश्चलता शून्यता आदि स्तम्भ है एकटक देखते रहना आदि भी स्तम्भमें देखा जाता है।

यस्यानुरागिहासादिलब्धमाना व्रजस्त्रियः ।
कृत्यशेषाश्चानुवृत्तधियो दृग्भिरवस्थिताः ॥ २७ ॥

* ततोऽतिकुतुकोद्वृत्तस्तिमितैकादशेन्द्रियः ।
तद्धाम्नाऽभूदजस्तूष्णीं पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका* ॥ २८ ॥
* न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्मनस्तया ।
कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम् ॥ २९ ॥
क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः ।
अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः* ॥ ३० ॥
इत्यादौ स्तब्धता प्रोक्ता नारदोऽपि तथा जगौ ।
* आनन्दसंप्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने* ॥ ३१ ॥

यस्यानुरागप्लुतहासरास इत्यादि श्लोकमें कहा है कि भगवान् के अनुरागपूर्वकहासादि से मान प्राप्तकर व्रजस्त्रियाँ काम बाकी रहने परभी एकाग्र वृत्ति और वैसी ही दृष्टि होकर खडी रह गयीं । भगवान् के तेजसे ब्रह्माजी चुप हो गये । उनकी ग्यारहों इन्द्रियाँ स्तब्ध हो गयीं । खिलौने छोडकर प्रह्लादजी कभी जड जैसे हो जाते थे । कभी रोमाञ्चित अस्पन्द साश्रु निमीलितनयन आदि होते थे । इत्यादिमें स्तब्धता बतायी है । नारदजी व्यास को कहते हैं कि आनन्दमें डूबे हुए मैंने कुछ भी नहीं देखा ।

व्रजे वृक्षलतावीरुद्गुल्माद्यश्मोपलान् ।
स्तब्धीभूतान् परप्रेम्णा ऋषीन् प्राज्ञाः प्रचक्षते ॥३२॥

व्रज के वृक्ष पत्थर आदि प्रेम से स्तब्ध हुये ऋषि हैं ऐसा मत है ।

स्तब्धता जडवद्भावः क्षिप्तातस्थैव मत्तता ।
तथात्मारामता नाम सचेतनसमाधिवत् ॥ ३३ ॥

जड जैसा भाव स्तब्धता है। मत्तता क्षिप्तावस्था जैसी है और आत्मारामता जाग्रत्समाधि के समान है।

* यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथात्माद्धा न शाम्यति* ॥ ३४॥

कामलोमादि के रहने पर भगवद्भक्ति ही आत्मशान्ति का उपाय है। यमादियोग पथ भी कमजोर साधन हैं।

आत्मनः शमने भक्त आत्मारामो भवत्यसौ।
एनमालक्ष्य भगवान्निजानुव्रजनं जगौ॥ ३५॥

* निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शिनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः* ॥ ३६॥

आत्मशमन होने पर भक्त आत्माराम होता है। उसी को लक्ष्यकर भगवानने अपना अनुव्रजन कहा। आत्माराम होने से अन्यानेपक्ष निर्वैर मुनि के पीछे मैं घूमता हूँ कि भक्त पदरज से मैं पवित्र होजाऊँ॥ ३५-३६॥

* कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया* ॥ ३७॥
गोपिकानन्दनो न त्वं देहिनामन्तरात्मदृक्।
उदेयिवान् सात्वतेषु प्रार्थितो विश्वगुप्तये॥ ३८॥
* आततत्वात्प्रमातृत्वादात्मा हि परमो हरिः*।
इत्यादिवचनादात्मा हरिरेवेति केचन॥ ३९॥

कृष्ण सर्वान्तरात्मा हैं। जगद्धितार्थ शरीरधारी से दीखते हैं। आप गोपीपुत्र नहीं सर्वान्तरात्मा हैं विश्व-रक्षार्थ सात्वतवंशमें प्रकट हुए "न खलु गोपिकानन्दनो

भवान्" इत्यादि दृश्य है। आतत और प्रमाता होने से आत्मा हरि है इत्यादि बचनानुसार आत्मा हरि है। ऐसा अन्य मत है।

सर्वे भगवदारामा भक्ता यद्यपि सर्वदा।
किन्तु प्रशान्तभावेन स्थितिरत्र विवक्षिता ॥ ४० ॥

यद्यपि इस प्रकार सभी भक्त आत्माराम हैं क्योंकि भगवदाराम सब हैं तथापि प्रशान्तरूपमें स्थिति यहाँ विवक्षित है ॥ ४० ॥

यत्र नो मत्तता नापि स्तब्धता स्यान्मनस्विनः।
भगवच्चरणाराम आत्मारामः सदा स हि ॥ ४५ ॥

ॐ

मत्त और स्तब्ध अवस्था के विरहकालमें भगवच्चरणाराम ही आत्मारामका अर्थ है।

इति फलनिरूपणं नाम तृतीयं प्रकरणम्।

तृतीय फलनिरूपण प्रकरणका हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

ॐ

अत्र व्याचक्षते केचिद्भक्तिः कामान्न भिद्यते।
धनदारादिविषयभेदात्तद्भेद इष्यते ॥ १ ॥

कुछ व्याख्यानकेसरियोंका कहना है कि भक्ति काम से अतिरिक्त नहीं है। धनदारादि विषयभेद से उसका भेद है।

तथा हि कामनैवेयं लोभः स्याद्धनगोचरः।
पुत्रादिविषयः स्नेहः कामः कान्तादिगोचरः ॥ २ ॥
भगवद्विषया सेयं भक्तिरित्यभिधीयते।
विषयाणां प्रभेदेन गुणभेदोऽपि युज्यते ॥ ३ ॥
निम्बेक्षुतिन्तिडीकृष्णपथ्याद्याश्रयभेदतः।
एकमेव जलं भिन्नरसं भिन्नगुणं यथा ॥ ४ ॥

जैसे कि कामना ही धन विषयक होने पर लोभ कहलाता है। स्त्री आदिक विषय होने पर काम कहलाता है। वही कामना भगवद्विषयक होने पर भक्ति कहलाती है। विषयभेद से गुणभेद होना भी स्वाभाविक है। जैसे नीम, ऊख, इमली आदि आश्रय के भेद से एक ही जलका रस भिन्न होता है और गुण भी भिन्न हो जाता है।

* एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धावेश्यते यथा* ॥ ५ ॥
खगा इवाजातपक्षा वत्सा इव च मातरम्।
प्रियं प्रियेव व्युषितं मनो मे त्वां दिदृक्षते ॥ ६ ॥
इत्यादिकं च वचनं निरुक्तार्थसमर्थनम्।
भगवत्काम एवात्र विस्पष्टं परिलक्ष्यते ॥ ७ ॥

मेरे शिष्य सनकादिने यही योग (भक्तियोग) बताया कि सब ओर से मन खींचकर मुझमें लगावे। "अजातपक्षा इव मातरं खगाः" छोटे पक्षिशावक-बछड़े आदि अपनी माँको, पत्नी परदेशगत अपने पतिको जैसे देखना चाहते हैं वैसे मेरा मन आपको देखना चाहता है। इत्यादि

उक्तार्थसमर्थक हैं। भगवत्कामना ही यहाँ स्पष्ट परिलक्षित होती है ॥ ५-७ ॥

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥ ७ ॥

भक्ति निरोधरूपिणी होने से कामात्मिका नहीं है।

अत्रोच्यते न कामो हि भक्तिरित्यभिधीयते।
अन्तर्वृत्तिर्यतो भक्तिर्बहिर्वृत्तिस्तथेतरः ॥ ८ ॥

ऊपर दिखाये मतका उत्तर यह है कि भक्ति काम नहीं है। क्यों कि भक्ति अन्तर्मुखी है काम बहिर्मुख होता है।

अनात्मविषयः कामो भक्तिरात्मैकगोचरा।
स्वसुखप्रवणः कामस्तत्सुखप्रवणा च सा ॥ ९ ॥

काम अनात्मविषयक होता है भक्ति आत्ममात्र विषयक। काम स्वार्थ पर होता है भक्ति प्रेयोऽर्थ पर।

सिद्धभोगः क्षिणोत्येष कामो नश्यति च क्रमात्।
प्रतिक्षणं वर्धमाना भक्तिरातन्त्यवर्त्मगा ॥ १० ॥

भोगोत्तर काम क्षीण होता है और क्रमशः नष्ट भी होता है परंतु भक्ति प्रतिक्षण बढती हुई अनन्तताकी ओर जाती है।

पण्यवीथिषु रूपं स्वं दर्शयन्तीव कामना।
भक्तिः कुलवधूर्लक्ष्मीरवगुण्ठितविग्रहा ॥ ११ ॥

कामना वारनारी के समान उघाडे मुख चलती है। भक्ति कुलवधू लक्ष्मी है। बाहर प्रगट नहीं होती।

भक्तौ कामे च सादृश्यं दृश्यते बहुधा बुधैः।
तथापि भेदः सरसि प्रतिबिम्बितवृक्षवत् ॥ १२ ॥

सर्वोपरिभवो भागो बिम्बभूततरोर्हि यः।
प्रतिबिम्बे हि सर्वाधः स हृदादौ विलोक्यते॥ १३ ॥

यद्यपि भक्ति और काममें बहुत समानता है। तथापि सरोवरमें प्रतिबिम्बित वृक्ष के समान भेद है। बिम्बात्मक वृक्षका जो सर्वोपरि भाग है वह प्रतिबिम्बमें तालाव आदिमें सब से नीचे दीखता है।

माधुर्यान्तं यदुत्कृष्टं भक्तौ स्यादुत्तरोत्तरम्।
अपकृष्टं भवेत् कामे प्रतिबिम्बे तदेव हि॥ १४ ॥

प्रतिबिम्बावसानो हि बिम्बप्रारम्भ ऊर्ध्वतः।
कामावसाने सति च भक्तिप्रारम्भ उत्तमः॥ १५ ॥

शान्त, दास्य, सख्य वात्सल्य और माधुर्य भक्तिमें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट है वह प्रतिबिम्ब काममें उत्तरोत्तर अपकृष्ट होता है। ऊपर की ओर प्रतिबिम्ब समाप्त होता है तो बिम्ब शुरू होता है। वैसे कामका अवसान ही भक्तिका प्रारम्भ है।

प्रेमगा कामगा चेति चित्तवृत्तिर्द्विधा मता।
विवृणोत्याद्विमा प्रेम तच्छायामितरर्च्छति॥ १६ ॥

आत्मानं संमुखीकृत्य प्रेमवृत्तिः प्रवर्तते।
अनात्मदारपुत्रादि संमुखीकुरुतेऽपरा॥ १७ ॥

सिद्धान्ततः प्रेमानुगामिनी तथा कामानुगामिनी द्विधा चित्तवृत्ति होती है। प्रेमवृत्ति प्रेमको अभिव्यक्त करती है। कामवृत्ति प्रेमच्छाया को ग्रहण करती है। आत्म-संमुख होकर प्रेमवृत्ति चलती है। कामवृत्ति अनात्म संमुख।

कामः स्वार्थसुखावाप्त्यै दारपुत्राद्युपाश्रयेत् ।
नान्यशेषः परात्मेति न स्वार्थं भक्तिरन्वियात् ॥ १८ ॥

काम स्वार्थ सुख की प्राप्ति के लिए दारादिका आश्रयण करता है। परमात्मा अनन्य शेष है अतः भक्ति में स्वार्थ नहीं रहता है।

* निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते ।
ताभ्यः परं न मे किंचिन्निगूढप्रेमभाजनम् * ॥ १९ ॥

अपने अंगो को भी गोपियाँ भगवान् के समझती थी उनसे बढकर परम प्रेमभाजन दूसरा कोई भगवान् का नहीं है।

भजिः सेवार्थकः प्रोक्तः सेवा परसुखप्रदा ।
भक्तस्य सकलं वस्तु भजनीयाय कल्पते ॥ २० ॥

"भज सेवायां" धातु है। पर सुखार्थ सेवा होती है। अतः भक्त की सभी वस्तु भगवदर्थ होती है।

यत्तु कृष्णसुतः कामो भक्तिर्मातेति केचन ।
तदसद् भक्तिजन्यत्वं कामस्य कथमिष्यताम् ॥ २१ ॥
न कामजननी भक्तिः किन्तु कामविघातिनी ।
वृत्तिद्वयं पृथक् प्रोक्तं विविच्यैवावबुध्यताम् ॥ २२ ॥

काम प्रद्युम्न कृष्णपुत्र है अतः भक्ति माता है यह कथन ठीक नहीं है। भला भक्तिसे काम कैसे पैदा होगा?। भक्ति काम को जननी नहीं हननी है। दो वृत्तियाँ पहले कही जा चुकी हैं। उसको विवेक करके ही समझना चाहिए।

ननु कामयते प्राणी न तु भक्तिरचेतना ।
न सा कामयमानेति निषेधोऽप्राप्तिपूर्वकः ॥ २३ ॥

मैवं भावप्रधानोऽयं निर्देशो मुनिना कृतः ।
प्रकृत्यर्थे प्रकारश्च कामः कामयमानता ॥ २४ ॥

शंका होगी कि कामना प्राणी करता है न कि अचेतन भक्ति । अतः 'सा न कामयमाना' यह निषेध प्राप्ति पूर्वक नहीं है । उत्तर यह है कि यहाँ भावप्रधान निर्देश है । कामयमानत्वमें प्रकृत्यर्थ प्रकार काम ही यहाँ अर्थ विवक्षित है ।

नन्वेवं सति सा कामो नेत्येव न कुतोऽब्रवीत् ।
कामैकाधिकारण्यस्याप्यपास्त्यायिति धारय ॥ २५ ॥
अहं त्वकामस्त्वद्भक्त इति भक्तधुरन्धरः ।
कामैकाधिकारण्यं हि प्रह्लादोऽपि निषिध्यति ॥ २६ ॥

तव भक्ति काम नहीं ऐसा सीधा क्यों नहीं कहा? उत्तर है कि कामसमानाधिकरण्यका भी निराकरण करना है । मैं निष्काम भक्त हूँ । इस प्रकार प्रह्लादजी भी भक्तिमें कामसमानाधिकरण्य निषेध करते हैं ।

नन्वकाम इति व्यर्थं प्रह्लादोक्तौ स्वतः स्थितेः ।
उच्यतेऽत्रादृढां भक्तिं निवारयितुमस्तु तत् ॥ २७ ॥

यदि भक्तिमें कामसमानाधिकरण्य नहीं तो अहंत्वकाम कहना ही व्यर्थ है । उत्तर है कि अदृढ भक्ति के वारणार्थ वह पद है ।

इदं गतार्थं पूर्वोक्तेर्न किंचिद्वाञ्छतीति चेत् ।
फलरूपेण पूर्वोक्तं स्वरूपविधयाधुना ॥ २८ ॥

"यत्प्राप्य न किंचिद्वाञ्छति" से यह गतार्थ है ऐसी

शंका नहीं करना चाहिए। कारण पहले फल बताया। यहाँ स्वरूप कह रहे हैं।

अत एव निजं पूर्वमकाममभिधाय च।
कामासंरोहमवृणोत्प्रह्लादो वरदाद्वरम् ॥ २९ ॥
* यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्* ॥ ३० ॥
भक्तिकालेऽपि कामानां वासना त्ववतिष्ठते।
सुदृढायां पुनर्भक्तौ भस्मीभवति सापि च ॥ ३२ ॥
प्रव्यक्तकामविरहमकाम इति संजगौ।
संस्कारवासनाहान्यै कामासंरोहमाजगौ ॥ ३३ ॥

अत एव प्रह्लादने अपनेको अकाम कह कर फिर कामासंरोह वर मांगा। हे भगवन् यदि आप मेरी कामना पूर्ण करना चाहते हैं तो मेरे अंदर कामना ही उत्पन्न न हो यह वरदान दीजिए। भक्तिकालमें भी वासना रह सकती है सुदृढ भक्ति होने पर वह भी नष्ट होती है। प्रत्यक्ष कामाभाव को लेकर अकाम कहा। संस्कारनाशार्थ अर्थात् सुदृढ भक्त्यर्थं कामासंरोह मांगा।

* तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोयज्ञक्रियादिभिः।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया* ॥ ३३ ॥

तप यज्ञादिसे पाप नष्ट हो सकते हैं किन्तु पाप जन्य संस्कार नष्ट नहीं होते। वे भी भक्तिसे नष्ट होते हैं ॥ ३३ ॥

सा न कामायमानेति केचित्पाठमिहापठन्।
औपमानिक आचाराऽप्यस्याः कामेन नास्त्यतः ॥३४॥

सा न कामायमाना ऐसा पाठ किसी के मतमें है। "उपमानादाचारे" इस सूत्र के अनुसार कामसमान आचार भी भक्ति में नहीं यह इस से अर्थ निकलता है।

केचिच्चिच्छैव वाञ्छा स्यात्कामः संस्कारजृम्भितः।
पृथक् तस्मान्निषेधोऽस्य साधकानामपेक्षितः ॥ ३५ ॥
निरोधरूपता हेतुरप्यत्रैवं समञ्जसः।
निर्बीजं हि यतः सर्वनिरोधं योगिनो विदुः ॥ ३६ ॥
निरोधे खलु बीजाख्यः संस्कारो नावशिष्यते।
संस्कारप्रवणः कामो नैव संभाव्यते ततः ॥ ३७ ॥

कुछ लोगोंका मत है कि पूर्वोक्त वाञ्छा इच्छामात्र है। और काम संस्कार घटित है। अतः पृथक् निषेध आवश्यक है। निरोधरूपत्वात् यह हेतु भी इस प्रकार संगत होता है। क्यों कि योगी लोग निर्बीज को ही निरोध कहते हैं। निरोध होने पर संस्काररूपी बीज नहीं रहता। तब संस्कार घटित काम भी नहीं रह सकता।

प्रेमवृत्त्या ह्यभिव्यक्तं प्रेम संस्कारदाहकम्।
कामवृत्त्या सुखाभासस्तथा संस्कारजृम्भणः ॥ ३८ ॥

प्रेमवृत्त्यभिव्यक्त प्रेम संस्कार का दाहक है। कामवृत्तिसे अभिव्यक्त सुखाभास संस्कारवर्धक है। ॥३७॥

ननु व्यापारसंन्यासो निरोध इति वक्ष्यते।
निर्बीजेति कथं व्याख्या निरोधस्य विधीयते ॥ ३९ ॥
मैवं निरोधरूपत्वं प्रेम्णोऽत्र विनिगद्यते।
न्यासस्तु फलरूपं स्यात्संस्कारपरिवर्जनात् ॥ ४० ॥

लोकवेदव्यापारन्यास निरोध है यह बतायेंगे अतः निर्बीज अर्थ कैसे करते हैं ? उत्तर यह है कि प्रेम को यहाँ निरोधरूप कहा गया है। अतः न्यास तो संस्कार न रह जाने से फल है। ॥५०॥

केचित्तु मित्ररूपेण पुत्ररूपेण चेश्वरः।
प्रेयोरूपेण च त्रेधा निरुन्धे कामनामिति ॥ ४१ ॥
वस्तुतो येन केनाऽपि रूपेण हृदि भावितः।
रुन्धे काममतः सर्वरूपेणेत्येव लाघवम् ॥ ४२ ॥

कुछ लोगोंका कहना है कि मित्ररूपसे पुत्ररूपसे तथा प्रियतमरूपसे तीन प्रकार भगवान् कामनिरोध करते हैं। वस्तुतः जिस किसी भी रूपसे भावित भगवान काम निरोध करते हैं। अतः सर्वरूपेण कहने में ही लाघव है।

निरुध्यते हरिर्येन भक्तचेतसि सर्वदा।
भक्तो निरुध्यते येन प्रेम्णा च भगवत्पदे ॥ ४३ ॥
परस्परनिरोधोऽयं परकामे न सिद्धयति।
परकामेऽन्यवद्धो हि जनस्तद्बद्धरिश्च यत् ॥ ४४ ॥

भक्तचित्तमें भगवान और भगवच्चरण में भक्त निरुद्ध होता है अतः प्रेमको निरोध कहा जाता है। यह परस्परनिरोध अन्यकामना होने पर नहीं हो सकता, क्यों कि परकामनामें भक्त परमें आवद्ध होता है तो हरि भी अन्यत्र आवद्ध होंगे। ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। ऐसा गीतामें भी कहा है।

निरोधरूपतो भक्तेः श्रीमद्भागवते स्वयम्।
निरूपिता भगवता स्पष्टमेवोद्धवं प्रति ॥ ४५ ॥

* न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः* सत्सङ्गो भक्तिरत्र हि ॥ ४६ ॥

* न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता* ॥४७॥

इति व्यावर्त्य योगादिं भक्तेरग्रे स्वसाधने ।
समानविधया सम्यक् कारणत्वेन कीर्त्तनात् ॥ ४८ ॥

भक्तिकी निरोधरूपता श्रीमद्भागवत में बतायी है । योग सांख्यादि मेरा निरोध वैसा नहीं कर सकते जैसा कि सत्सङ्ग । इस श्लोकमें सत्संग भक्तिका उपलक्षण है । मुझे योगादि साधित नहीं कर सकते जैसे भक्ति, इस-प्रकार आगे समानरूपसे स्वसाधनमें भक्ति का निर्देश किया है । ॥४५-४८॥

प्रपञ्चविस्मृतिः कृष्णासक्तिश्चेति किल द्वयम् ।
निरोधं वल्लभाचार्या दशमस्थं प्रचक्षते ॥ ४९ ॥

निरोधः प्रलयाख्यानो मुक्तिरात्यन्तिकः स हि ।
इति तु श्रीधराचार्या प्राहुरेकादशस्थितम् ॥ ५० ॥

प्रपञ्चविस्मृति और कृष्णासक्ति इन दो को वल्ल-भाचार्य निरोध कहते है। दशमस्कन्ध में इसे माना है। निरोध का मुख्यार्थ प्रलय है । आत्यन्तिक प्रलय ही मुख्य है वह एकादश स्कन्ध में है । ऐसा श्रीधराचार्यमत है ।

गिश्वलां भक्तिमब्रूम मुक्तिं स्कान्दोक्तितो वयम् ।
निरोधरूपा सेतीह देवर्षिर्भगवान् जगौ ॥ ५१ ॥

आहामृतस्वरूपा चेत्येवं भक्तेर्विमुक्तिताम् ।
अमृतत्वं पुनर्मोक्षः श्रुत्यादेरिति चाब्रवम् ॥ ५२ ॥

"निश्चला त्वयि भक्तिर्या सैव मुक्तिर्जनार्दन" इस स्कान्द वचन से निश्चल भक्ति ही मुक्ति है यह हम पहले कह आये हैं । भगवान् देवर्षि नारदजी भी इसी को यहाँ निरोधरूप कह रहे हैं। 'अमृतस्वरूपा च' इस सूत्रमें भक्ति को मुक्तिरूप बताया । अमृतत्व मोक्ष ही है यह श्रुत्यादि प्रमाण से हमने पहले बताया भी है । ॥५१-५२॥

प्रपञ्चविस्मृतिस्तत्र प्रपञ्चविलयोऽथवा ।
सिद्धान्तभेदतः प्राज्ञैर्यथायोग्यं निरूप्यताम् ॥ ५३ ॥
भगवन्मायया विश्वरचना चेदुपेयते ।
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तौ विलयो ध्रुवः ॥ ५४ ॥
* मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।*
इति मायानिवृत्तिर्हि प्रपन्नानामुदीरिता ॥ ५५ ॥

वहाँ [मुक्ति में] प्रपञ्च का विस्मरण है या विलय है यह सिद्धान्त भेद से पंडित लोग निरूपण करें । भगवन्मायासे विश्वरचना हो तो विश्वमाया की निवृत्ति होने पर प्रपञ्चका विलय भी निश्चित है । मामेव ये प्रपद्यन्ते इत्यादि गीता वाक्यमें प्रपन्न भक्तों की माया निवृत्ति बतायी गयी है । ॥५३-५५॥

कृष्णो गोप्यस्तदीयं च प्रेमेत्याद्यमशेषतः ।
सामाजिकानामस्माकमाश्रयो नैव संशयः ॥ ५६ ॥
ततश्च श्रीधराचार्या आश्रयं दशमेऽब्रुवन् ।
निरोधवर्णनात्तं च प्राहुरेकादशस्थितम् ॥ ५७ ॥

कृष्ण, गोपिकायें, उनका प्रेम इत्यादि सब हम जैसे सामाजिकों के लिये भक्ति का आश्रय है इसमें संशय नहीं। सामाजिकानुरोधसे दशममें आश्रयवर्णन श्रीधराचार्य ने माना। और एकादशमें निरोधवर्णन होने से एकादश का विषय निरोध बताया।

कृष्णतज्जनयोस्तत्र बोध्ययोर्नायकात्मनोः।
परस्परनिरोधस्तु दशमे परिवर्णितः ॥ ५८ ॥
इत्यतो वल्लभाचार्या निरोधं दशमेऽवदन्।
युक्तं विषयभेदेन द्वयं चेति तु मे मतिः ॥ ५९ ॥

कृष्ण और तद्भक्त गोपिका आदि बोध्य नायकोंका परस्पर निरोध दशमस्कन्धमें वर्णित हुआ है। इसलिये श्री वल्लभाचार्यने दशममें निरोध बताया। मेरी मति ऐसी है कि विषयभेद से दोनों मत सम्यक् है ॥५७-५९

प्रपञ्चविस्मृतिर्वा स्यात्प्रपञ्चविलयोऽथवा।
सर्वथाऽपि निरोधेऽस्मिन् न कामो हि प्रसज्यते ॥६० ॥

प्रपञ्चका विस्मरण हो या विलय सर्वथापि इस निरोधमें कामकी प्रसक्ति तो नहीं है। ॥६०॥

विस्मृतिर्विलयश्चैव नैवादर्शनमुच्यते।
किन्तु सर्वत्र जगति भगवन्मयतेष्यते ॥ ६१ ॥
सा च प्रपञ्चसंज्ञानसहिता भवति क्वचित्।
क्वचित्संबाधसहिता क्वचिच्चात्यन्तशून्यतः ॥ ६२ ॥

ॐ

विस्मृति और विलय अदर्शन को नहीं कहते। किन्तु सर्वत्र भगवन्मयता ही प्रपञ्च की विस्मृति या प्रलय है।

भगवन्मयता कहीं तो प्रपञ्चज्ञानसहित होती है और कहीं अत्यन्त प्रपञ्चज्ञान शून्यभी होती है। ॥६१-६२॥

ॐ

नन्‌ु कोऽयं निरोधः स्याद्धेतुरूपेण दर्शितः।
चित्तवृत्तिनिरोधस्तु योगिनामेव दृश्यते ॥ १ ॥
मत्ताद्यवस्थभक्तस्तु चरन् गायन् रुदन् हसन्।
निरुद्धचित्तवृत्तिर्न शक्यसम्भावनो भवेत् ॥ २ ॥
न रोधयति मां योगो न सांख्यमिति विस्तरात्।
योगादीनां पराख्यानाद् रोधान्तरसमीरणात् ॥ ३ ॥

निरोधरूपत्वाद् यहां निरोध क्या है। चित्तवृत्ति निरोध तो योगियोंका ही होता है। मत्तादि अवस्था-स्थित भक्त चलता है गाता है रोता हँसता है। वह भला निरुद्धचित्तवृत्तिवाला कैसे हो। न रोधयति मां योग इत्यादि विस्तार पूर्वक योगादि का निराकरण किया है। अतः भक्तिमें रोध अन्य ही है। ॥१-३॥

नन्‌ु प्रपञ्चविलयस्तद्विस्मरणमेव वा।
यत्र ताद्रूप्यमुदितं निरोधस्य हि सम्प्रति ॥ ४ ॥
सत्यं तथापि तल्लिङ्गं वाच्यमैकान्तिकं परम्।
साधनं साधकानां यदितीदमभिधीयते ॥ ५ ॥

पूर्वपक्षः-अभी अभी [पूर्वसूत्र व्याख्यामें] बताया कि प्रपञ्चका विलय या विस्मृति निरोध है। उत्तरः-बात ठीक है तथापि उस निरोधका ऐकान्तिक परमलिंग भी वक्तव्य है जो साधकों के लिये साधन स्वरूप है इस लिये वह कहा जा रहा है।

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ॥ ८ ॥

लौकिक तथा वैदिक कर्मों का संन्यास ही निरोध है।

* यदा यमनुगृह्णाति भगवान् पुरुषः परः ।
स त्यजेत मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठताम्* ॥ ६ ॥
परिनिष्ठितधीत्यागाल्लौकिकान्वैदिकांस्तथा ।
व्यापारानेष संन्यस्येत्कृतार्थो हरिभक्तितः ॥ ७ ॥

जब भगवान् अनुग्रह करते हैं तब मनुष्य लोकमें और वेदमें परिनिष्ठित मति को छोड देता है । [भागवत] परिनिष्ठित बुद्धिका त्याग होने से ही लौकिक और वैदिक व्यापारोंका संन्यास करेगा । क्यों कि वह हरिभक्तिसे कृतार्थ हो जाता है ।

न्यासः समर्पणमिह न तु त्यागो विवक्षितः ।
इति केचित्समाचख्युस्तच्चिन्त्यमिव दृश्यते ॥ ८ ॥
परिनिष्ठतबुद्धिर्हि यस्मिन्नास्ति तदर्पयन् ।
विडम्बनामेव कुर्यान्मृषामुद्राप्रदानवत् ॥ ९ ॥
निश्चयादूर्ध्वमेवास्तु भक्तानां शास्त्ररक्षणम् ।
लोकेऽपि तावदेवेति चोत्तरेण विरोधतः ॥ १० ॥

कुछ लोगोंने न्यास का समर्पण अर्थ किया है । वह चिन्त्य है । क्यों कि जिसमें परिनिष्ठित बुद्धि नहीं है उसका अर्पण करना विडम्बना मात्र है । जैसे खोटा रुपया देना । "भवतु निश्चयादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणं" "लोकेऽपि तावदेव" इन उत्तर सूत्रोंमें निश्चयोत्तर कर्म करने को बताया उससे पूर्व तो कर्म त्याग ही प्रतीत होता है । ॥९–१०॥

नन्वेवं निश्चयादूर्ध्वं निरोधविरहात्तदा ।
निरोधरूपा भक्तिश्च नैव स्यादिति चेन्न तत् ॥ ११ ॥
भवत्विति ह्यनास्थायां न विधिं बोधयेदसौ ।
करोतु मा करोत्वाहो फलभेदो न विद्यते ॥ १२ ॥
लोकसंग्रहरूपं वा परार्थं वा विधीयताम् ।
शास्त्ररक्षणमेतेन न हि स्वस्यास्ति किंचन ॥ १३ ॥
इत्थं च निश्चयादूर्ध्वं विहितं शास्त्ररक्षणम् ।
प्रतिरुन्ध्यान्न हि न्यासमहंकाराद्यभावतः ॥ १४ ॥

यदि ऐसी बात तब निश्चयोत्तर व्यापारन्यास न होने से व्यापारन्यासरूपी निरोध और निरोधरूपा भक्ति भी न होगी । ऐसा पूर्वपक्ष नहीं हो सकता । क्यों कि 'भवतु, यह अनास्था सूचक है । विधि नहीं । करें या न करें कोई फलभेद नहीं है । लोकसंग्रहार्थ या परोपकारार्थ शास्त्ररक्षण हो, किन्तु उस से अपना कुछ नहीं होता । तत्पर्य यह है कि निश्चयोत्तर किया हुआ शास्त्र रक्षण न्यास का प्रतिरोधी नहीं है । कारण अहंकारादि नहीं है । ॥११-१४॥

* यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते* ॥ १५ ॥

जिसमें अहंकारात्मक भाव नहीं जिसकी बुद्धि लिप्यमान नहीं होती वह इस लोकको मारता हुआ भी नहीं मारता और न बन्धन में ही पडता ।

तस्मात्संन्यास एवात्र लोकवेदोक्तकर्मणाम् ।
देवर्षेः समभिप्रेत इत्येवं मन्महे वयम् ॥ १६ ॥

इसलिये यहाँ सवकर्मसंन्यास ही विविक्षित है ।

* दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुकाः ।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥ १७ ॥
परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः ।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ॥१८॥
लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने ।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः* ॥ १९ ॥
भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मः स वैदिकः ।
लौकिको लेपनादिश्च गोप्यस्तत्प्रजहुर्द्वयम् ॥ २० ॥

रासाध्यायमें बताया कि गोपियाँ गोदोहनादि तथा पतिशुश्रूषणादि सब काम छोडकर भगवान के पास दौड आयीं । उन्होंने पतिशुश्रूषणादि वैदिक कर्म तथा लेपनादि लौकिक कर्म छोड दिया था । ॥१९-२०॥

* तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥ २१ ॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः* ॥ २२ ॥

इसलिये हे उद्धव तुम प्रवृत्ति निवृत्ति रूपी वेदोक्त कर्म श्रोतव्य श्रुत आदि छोडकर मुझ सर्वात्मा को सर्वभावेन शरण आजाओ । मुझ से निर्भय हो जाओगे ।

न चात्र हि निवृत्त्यात्मा संन्यासोऽपि निषिध्यते ।
यतो विविदिषान्यासो निवृत्त्यात्र विवक्षितः ॥ २३ ॥

यद्यपि निवृत्तिरूपी संन्यास का भी उक्त वाक्यमें निषेध है। तथापि वह विविदषासंन्यासका ही निषेध है।

संन्यस्य श्रवणं कुर्यादधिकारिविशेषणम्।
संन्यासोऽत्र स च प्रोक्तः साहंकारोऽधिकारिणाम् ॥२४॥

संन्यस्य श्रवणं कुर्यात् इस वाक्यमें श्रवणाधिकारि विशेषण संन्यास अधिकारियोंका साहंकार है।

लोके वेदे च कर्माणि साधिकाराणि यानि हि।
तेषां त्यागात्कुतः कामः कामिनो ह्यधिकारिणः ॥ २५ ॥

लोक और वेदमें जितने साधिकार कर्म है उनका त्याग होने पर काम नहीं हो सकता अधिकारी तो कामी ही होते हैं। ॥२५५॥

ननु नित्यानि कर्माणि हातव्यानि कथं खलु।
प्रत्यवायप्रसङ्गाच्चेन्मैवं भक्त्या कृतार्थतः ॥ २६ ॥
वरीयान् श्वपचो यस्य वाचि त्वन्नाम वर्तते।
तेपुः सस्नुश्चाजुहवुरनूचुर्नामजापिनः ॥ २७ ॥
कृत्स्नकर्मकृतः कस्मात्प्रत्यवायः प्रसज्यते।
अत एवाह भगवान् गीतायां पाण्डुनन्दनम् ॥ २८ ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ २९ ॥

नित्य कर्म त्याग में प्रत्यवाय की शंका नहीं है। क्यों कि भक्तिसे ही नित्य कर्मों की कृतार्थता है। 'अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्, में बताया है कि श्वपच भी श्रेष्ठ है जिसकी वाणी में भगवन्नाम है। नाम जपनेवालोंने

तप स्नान हवन वेदाध्ययनादि सब कुछ कर लिया। सर्वकर्मकृत् को क्यों पाप लगें। गीतामें भी कहा है। सर्व धर्मों को छोडकर तुम मेरी शरण में आवो। मैं तुम्हें सर्व पापसे मुक्त करूँगा। शोक मत करो। ॥२६-२९॥

ननु कर्माणि कृत्वापि संभवेत्तत्समर्पणम्।
सापि भक्तिरिति प्रोक्तं गीतायां हरिणा स्वयम् ॥३०॥

शंका :-कर्म करके फल समर्पण भी तो संभव है। उसे भी भगवानने गीतामें भक्ति बताया है।

* अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्* ॥ ३१ ॥

* यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ ३२ ॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि* ॥ ३३ ॥

* एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ३४ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ३५ ॥

इन श्लोकोंमें, कर्म अवश्य करना चाहिये। किन्तु फल भगवानको समर्पित करें यह फल त्याग भी भक्ति है। इत्यादि बातें स्पष्ट हैं। ॥३१-३५॥

संन्यासयोगयुक्तात्मेत्येवमत्र विशेषणात्।
फलत्यागोऽपि संन्यासस्तथा चान्यत्र दर्शितम् ॥ ३६ ॥

* अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः* ॥३७॥

संन्यासयोगयुक्तात्मा इस विशेषणसे फलत्याग भी संन्यास सिद्ध होता है । फलाश्रयण न कर कर्तव्य कर्म करनेवाला संन्यासी और योगी है यह वचनान्तर भी इसमें प्रमाण है ।

सत्यं साधनभक्तिस्तु भवेत्कर्मार्पणात्मिका ।
प्रेमलक्षणभक्तिस्तु कर्मसंन्यासरूपिणी ॥ ३८ ॥
अत्राकामयमानत्वे प्रकृता प्रेमलक्षणा ।
भक्तिस्ततः सर्वकर्मसंन्यासो हि विवक्षितः ॥ ३९ ॥

समाधानः—साधन भक्ति फलसमर्पणरूप है । किंतु प्रेमलक्षणा भक्ति तो कर्मसंन्थासस्वरूप है । यहाँ अकामयमानता प्रतिपादन में प्रेम लक्षणा भक्ति ही प्रकृत है । अतः सर्वकर्मसंन्यास ही विवक्षित है । ॥३२–३९

नन्वेवं लोकवेदोक्तपूजादित्याग आपतेत् ।
मैवं सा भक्तिरेवेति तदन्यत्यागवर्णनात् ॥ ४० ॥

तब तो लोकवेदोक्त पूजादि कर्मका भी त्याग होगा । उत्तर है कि पूजादि स्वयं भक्तिरूप है । अतः तदन्य कर्मत्याग विवक्षित है ।

एतच्च वक्ष्यतेऽग्रेऽनुकूलाचरणमीरयन् ।
घट्टकुट्यां प्रभातस्य वृत्तान्तस्तर्हि चेन्न तत् ॥ ४१ ॥

यह आगे तदनुकूलाचरण कहते हुए स्पष्ट करेंगे । तब तो घट्टकुटीप्रभातन्याय होगा यह शंका नहीं करना क्यों कि :—

शुभाशुभफलादीनां मोक्षणार्थं समर्पणम् ।
भगवत्कर्मकरणे का शुभाशुभचिन्तना ॥ ४२ ॥

"शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे" से समर्पण शुभाशुभ मोक्षार्थं है । भगवत्कर्म में तो शुभाशुभ की चिन्ता ही नहीं होती ।

तदर्थकर्मकरणमन्यदन्यत् समर्पणम् ।
क्व च पूजादिकं चक्रुर्गोप्यः शास्त्रविधानतः ॥ ४३ ॥
न मन्त्रयन्त्रस्तवनध्यानाह्वानादि वेद्म्यहम् ।
तवानुसरणं वेद्मीत्यत्र स्पष्टं जगाविदम् ॥ ४४ ॥

भगवदर्थं कर्म करना और है फलसमर्पण करना और है । फिर गोपियाँ शास्त्र विधिसे कृष्ण की पूजा आदि भी कहाँ करती रही ? न मन्त्रं नो यन्त्रं इत्यादि में यह बात स्पष्ट है ।

* तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते* ॥ ४५ ॥
इत्यत्र कर्मसंत्यागः स्वरूपेणाभ्युदीरितः ।
तथा च भगवानाह* निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन* ॥ ४६ ॥

तवतक कर्म करो जवतक वैराग्य या भगवत्कथा श्रवणादि में श्रद्धा उत्पन्न न हो । इस भागवत श्लोकमें स्वरूपतः कर्मत्याग बताया है । "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" यहां भगवानने भी यही कहा ।

अन्ये तु न्यासशब्दार्थौ द्विधा तावद्विवक्षितः ।
न्यासः समर्पणं चैव न्यासः संन्यास एव च ॥ ४७ ॥

ईश्वरार्थानि कर्माणि कृत्वा तेषां समर्पणम् ।
येनाहंकारलेशस्य नावकाशः क्वचिद्भवेत् ॥ ४८ ॥
* त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।
इत्येवं मतिमांस्तस्य सेवां कुर्वीत नित्यशः ॥ ४९ ॥
* यत्कृतं यत्करिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम् ।
त्वया कृतं तत्फलभुक् त्वमेव परमेश्वर* ॥ ५० ॥

दूसरों की व्याख्या है—न्यास शब्दका समर्पण तथा संन्यास दोनों ही अर्थ हैं। इश्वरार्थ कर्म कर उसका समर्पण करें। जिससे अहंकार न रहे। नित्य सेवा करें। भाव रखे-त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये। मैंने कुछ नहीं किया। सब तुमने किया। उसका फल भी तुम्हें ही प्राप्त हो। ॥४७-५०॥

यान्यन्यानि तु कर्माणि त्यागस्तेषां हि सर्वथा ।
तत्फलार्पणचिन्तादिर्नास्त्येवात्र कथंचन ॥ ५१ ॥
एतच्चाग्रिमसूत्रेषु स्वयं स्पष्टीभविष्यति ।
इति व्याचख्युरेतस्य सूत्रस्यार्थं मनीषिणः ॥ ५२ ॥

ॐ

अन्य कर्मोंका सर्वथा त्याग है उनके फलार्पणादिकी कोई चिन्ता नहीं है। यह अग्रिम सूत्रों में स्पष्ट भी होगा।

ॐ

इत्थं प्रदर्श्य सांख्यानां निरोधस्य तु लक्षणम् ।
योगिनामधुना लिङ्गं निरोधस्याभिधीयते ॥ १ ॥

इस प्रकार सांख्योंका निरोध दिखाकर अब योगियोंका निरोध स्वरूप कहते हैं।

तथा हि द्विविधा निष्ठा तत्र तत्र प्रदर्शिता।
अर्जुनं प्रति गीतायां भगवान् यदुनन्दनः ॥ २ ॥

गीतामें दो निष्ठायें भगवानने तत्र तत्र कहीं हैं।

* एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि* ॥ ३ ॥
* लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्* ॥ ४ ॥
* यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति* ॥ ५ ॥

इन गीता श्लोकोमें सांख्य और योग का वर्णन है।

सांख्यं नामात्र संन्यासः कर्मणामभिधीयते।
योगो भगवदर्थानां कर्मणां करणं स्वतः ॥ ६ ॥

सांख्य कर्मसंन्यास को और योग भगवदर्थ कर्मको कहते हैं।

फलभेदोऽत्र नास्त्येवेत्येकत्वं न त्वभेदतः।
* कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः* ॥ ७ ॥

एकं सांख्यं च योगं च यह फलैक्यसे बताया, न कि स्वरूपाभेदसे। कर्म से जनकादिको को सिद्धि प्राप्त हुई थी।

सर्वसाधनसाफल्यं भक्तिरेवेत्यभाषिषि।
ततो निष्ठाद्वयं हीदं भक्त्यर्थं हरिणेरितम् ॥ ८ ॥

सब साधनोंका साफल्य भक्ति ही है यह हम बता चुके। अतः गीतोक्त निष्ठाद्वय भी भक्त्यर्थं ही हो सकते हैं।

न्यासो यथैव सिद्धानां स्वतः साधोश्च साधनम्।
तथा योगोऽपि सिद्धानां स्वतः साधोश्च साधनम् ॥ ९ ॥
उक्तं च भाष्यकारेण कर्माणि जनकादयः।
जातायामपि संसिद्धौ विदधुर्न तु तत्यजुः ॥ १० ॥
भगवत्कर्मकरणस्वाभाव्यं योगिनो भवेत्।
तस्मान्निरोधलिङ्गत्वमेतस्यापि विनिश्चितम् ॥ ११ ॥

जैसे सिद्धोंका संन्यास स्वत: है साधकों का वही साधन है वैसे योग भी समझना चाहिये। द्वितीयाध्याय भाष्यमें भाष्यकारने भी कहा कि जनकादि ने संसिध्युत्तर भी कर्म किया, छोडा नहीं। भगवत्कर्म करनेका स्वभाव ही योगियोंका पड जाता है। अत: यह भी निरोधका लिंग निश्चित होता है। ॥९-११

न्यासस्यैव पुरोक्तस्य स्वविवक्षितमब्रवीत्।
अर्थं सूत्रान्तरेणेति केचिदत्र बुधा जगुः ॥ १२ ॥

लोकवेदव्यापारन्यास का ही अर्थ अगले सूत्रमें बतायेंगे यह किन्हीं विद्वानोंका कहना है।

उक्तेऽर्थे किंचिदधिकं विवक्षुरपरं गुणम्।
सूत्रान्तरेण न्यगदीदित्यन्ये प्रतिपेदिरे ॥ १३ ॥

न्यास में ही कुछ गुणान्तर यहां बतायेंगे यह मतान्तर है।

प्रोक्तन्यासस्य सिद्ध्यर्थं साधनं यदपेक्षितम्।
तदाहोत्तरसूत्रेणेत्येतच्च विदुषां म तम्॥ १४ ॥

न्यास का साधन उत्तर में बताया ऐसा भी विद्वन्मत है।

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ॥ ९ ॥

भगवानमें या प्रेममें अनन्यता और उसके विरोधियों में उदासीनता भी [निरोध है]

तस्मिन् हरौ प्रेमणि वा विषयेऽनन्यता सताम् ।
औदासीन्यं तद्विरोधिष्वाश्रयेत्ते तु साधकः ॥ १५ ॥

हरि या प्रेमके विषयमें अनन्यता और उनके विरोधियों में उदासीनता सिद्ध भक्तों की होती है साधक उन्हें अपनायें।

पञ्चास्यो वासुदेवश्च हरिशब्दार्थ उच्यते ।
इतिवच्चस्य वार्थत्वं संन्यासेन विकल्पनात् ॥ १६ ॥
पक्षान्तरेषु तस्यार्थो यथायोग्यं निरूप्यताम् ।
साधकानां साधनत्वं समं सर्वमतेस्य तु ॥ १७ ॥

सिंह और कृष्ण हरि पदका अर्थ है यहाँ 'और, का विकल्प अर्थ है। वैसे सूत्रमें भी समझना चाहिये। अवतरणिकाके पक्षान्तरो में भी यथायोग्य अर्थ 'च' का करें। हाँ, साधकोंके लिये साधनरूपता सर्वमत में समान है।

* अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः* ॥ १८ ॥
* अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ १९ ॥
इत्येवं शतशः प्रोक्तानन्यता ह्युभयात्मना ।
न विद्यतेऽन्यो यस्यासौ तत्ता चानन्यतोच्यते ॥ २० ॥

सुलभः सर्वदेशित्वात्पर्युपेत्यपि तेन हि ।
नित्येति सर्वकालत्वादिति व्याख्येयमुक्तयोः ॥ २१ ॥

अनन्यचेता इत्यादि साधनरूपसे तथा सिद्धलिङ्ग रूपसे शतशः अनन्यता बतायी है । अन्य न हो यही अनन्यता है । सुलभः, परि, उप ये सब शब्द हरि सर्व-देश स्थित होने से और नित्य सर्वकाल स्थित होने से उक्त श्लोकों में आये हैं । ॥१८-२१

* यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम् ॥ २२ ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्* ॥ २३ ॥
खं वाय्वग्निजलावन्यो भं सत्त्वं दिग्द्रुमादयः ।
नद्योऽब्धयोऽन्ये च हरेर्देहोऽनन्यो हि तं नमेत् ॥ २४ ॥
सर्वं कृष्णमयं पश्येज्जगदेतच्चराचरम् ।
तथा प्रपश्यतोऽनन्यभावः स्यादिति चाशयः ॥ २५ ॥

गीता भागवतादिमें सभी कृष्णमय बताया है । जगत को कृष्णमय देखने पर अनन्यता होगी यह भी सुलभः परि उप इन शब्दोंका आशय है ।

तद्विरोधिषु नासङ्गो न विरोधश्च युज्यते ।
उभाभ्यां भगवत्पूजाध्यानन्यासाद्ययोगतः ॥ २६ ॥
आसङ्गेऽपि विरोधेऽपि चिन्ता तद्विषया भवेत् ।
तस्माद्विरोधिषु हरेरौदासीन्यं हि शस्यते ॥ २७ ॥

* सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूकता ।

यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत्* ॥ २८ ॥

भगवद्विरोधियों में आसक्ति हो या द्वेष दोनों ही में उसीका चिन्तन होता रहेगा । उससे भगवत्पूजादिमें विघ्न होगा । यही तो सबसे भारी हानि छिद्रादि है ।

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।

प्रेममैत्रीकृपोपेक्षाः कुर्यात्साधनसंस्थितः ॥ २९ ॥

ईश्वर, भक्त, मूर्ख और द्वेषियोंमें प्रेम मैत्री, कृपा और उपेक्षा साधक करें ।

द्विषत्स्विति द्विषन्तः स्वं दर्शिताश्च विरोधिनः ।

साधने मध्यमत्वं तु सिद्धस्यैषा स्वभावतः ॥ ३० ॥

औदासीन्यमुपेक्षा वा त्यागो वात्र विवक्षितः ।

यतो हि भगवद्भक्तिर्नित्यं हृद्यवतिष्ठते ॥ ३१ ॥

यदर्थान्तरमत्रैव सूत्रेऽग्रे दर्शयिष्यते ।

तत्रैव तदभिप्रायं वर्णयिष्यामहे वयम् ॥ ३२ ॥

द्विषत्सुसे अपने द्वेषी और उक्त विरोधी दोनों ग्राह्य हैं । यद्यपि यह मध्यम साधन है तथापि सिद्धका वह स्वभाव है । औदासीन्य उपेक्षा और त्याग दोनों ही हैं । उस से ही हृदयमें भक्ति स्थिर रहती है । आगे दूसरा अर्थ सूत्रमें करेंगे । उसका भाव वहीं हम बतायेंगे ।

तत्याज तातं प्रह्लादो मातरं भरतादयः ।

स्वगुरुं बलिरत्याक्षीद् बन्धून् स्वान् खलु गोपिकाः ॥३३॥

प्रह्लादने पिता को भरतादि ने माताको बलीने गुरु को और गोपिकाओंने बन्धुओं को छोडा ।

तत्पदेनात्र चेत्प्रेम गृह्यते तद्विरोधिषु ।
व्यापारेष्वननुष्ठानमौदासीन्यं विवक्षितम् ॥ ३४ ॥

प्रेमविरोधियों में उदासीनता अर्थ करने पर प्रेम विरोधी कर्मादि समझें ।

* धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्* ॥ ३५ ॥

* तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्त्वतां पतिः ।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा* ॥ ३६ ॥

भक्त्यनुत्पादकं त्यक्त्वा कर्तव्याः श्रवणादयः ।
भक्तेर्विरोधिनां का वा कथेति स्पष्टमेतयोः ॥ ३७ ॥

धर्म से भक्ति नहीं हुई तो सिर्फ श्रम ही है । अतः एक मनसे भगवान का श्रवणादि करें इन दो श्लोकों में भक्त्य- नुत्पादक धर्मादि से औदासीन्य सूचित हुआ तो भक्ति विरोधी की बात ही क्या ।

प्रेमशैथिल्यकारी यः स विरोधी विवक्षितः ।
ततोऽनुकूलाचरणं वक्ष्यमाणं हि संगतम् ॥ ३८ ॥
यः प्रेमप्रतिकूलः स्याद् गाथादिर्लौकवेदयोः ।
न श्राव्यो नाप्यनुष्ठेयस्तत्रोदासीनता वरा ॥ ३९ ॥
अनुकूलग्रहणतोऽवसरः क्व विरोधिनः ।
इत्यतो न तिरस्कारदोष इत्यग्रिमाशयः ॥ ४० ॥

ॐ

प्रेम को जो शिथिल करे वही विरोधी है । वेद एवं पुराणादि में प्रेम विरोधी कोई कथा हो या कर्मादि हो

उसे न सुनें और न करें। परंतु इससे वेद पुराणादि के तिस्कार की आशंका हो सकती है। अतः आगे बतायेंगे कि अपने प्रेम के अनुकूल जो होगा उस को ग्रहण करो तो अपने आप विरोधी के लिये अवसर ही न रहेगा।

ॐ

अनन्यत्वे स्थितेऽप्येवमौदासीन्ये च नारदः।
स्पष्टत्वादपरं प्रोचे ह्यर्थमावश्यकं मुनिः ॥ १ ॥

अनन्यता और उदासीनताका अर्थ पूर्वोक्त स्पष्ट है। अतः नारदमुनि आवश्यक अन्य अर्थ अब कहते हैं।

यद्वोक्तानन्यतासिद्धावुपायं मुनिरब्रवीत्।
सिद्धावपि च तत्स्थित्या तच्छब्देन महामुनिः ॥ २ ॥

अथवा उक्त अनन्यता आदिका उपाय नारदजी अब कह रहे हैं। उपेय प्राप्ति होने पर ये उपाय रहते हैं। अतः उपायका उपेयशब्द से उपादान संगत है। ॥२॥

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ॥ १० ॥

अन्य आश्रयोंका त्याग अनन्यता कहलाती है।

साध्यसाधनरूपेण तथैव विषयात्मना।
नान्यं समाश्रयेद्धीरो भगवद्भक्तिसंस्थितः ॥ ३ ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
इत्यत्र भगवानेतत्स्पष्टमाचष्ट फल्गुनम् ॥ ४ ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्येत्यन्यसाधनवर्जनम्।
मामेकमिति तत्रैव विषयान्तरवर्जनम् ॥ ५ ॥

व्रजैकं शरणं ह्येतदन्यसाध्यपराकृतिः ।
शरणागतिरेवेह साधनं साध्यमेव च ॥ ६ ॥

साध्य साधन और विषयमें भक्तों की अनन्यता होती है । सर्वधर्मान् परित्यज्य श्लोक में 'सर्व धर्मोंको छोड़कर' इससे अन्य साधनोंका अनाश्रयण, 'मुझ एक को' इस से अन्य विषयों का अनाश्रयण, एवं 'एक शरण ही' इससे अन्य साध्यों का अनाश्रयण बताया गया है । अतः यहाँ शरणागति ही साध्य तथा साधन दोनों हैं ।

सार्वभौमादिकं चैव पारमेष्ठ्यादिकं तथा ।
ईशमोक्षाद्यवाप्तिं च केचित्साध्यमशिश्रियन् ॥ ७ ॥
यज्ञदानतपःकर्म जपोपास्तिव्रतानि च ।
वेदान्तश्रवणादींश्च परे साधनमाश्रयन् ॥ ८ ॥
कालीभैरववेतालान् विधिविष्णुमहेश्वरान् ।
परिपूर्णं परं ब्रह्म केचिद्विषयमाश्रयन् ।
कनिष्ठा मध्यमाः श्रेष्ठास्ते स्युः किन्त्वतथाविधाः ।
हरेः प्रेम हरेः सेवां हरिं च समशिश्रियन् ॥ १० ॥

कनिष्ठ, मध्यम और श्रेष्ठ भेद से साध्य साधन और विषय तीन तीन प्रकार के हैं । जैसे कनिष्ठ सर्वभौमतादि मध्यम पारमेष्ठ्यादि श्रेष्ठ मोक्षादि साध्य चाहते हैं । ऐसे साधन और विषयमें भी । परन्तु भक्त तो तीनों से परे है । वह तो हरि प्रेम को साध्य हरि सेवाको साधन और हरिको ही विषयरूपसे आश्रयण करता है ।

अनन्यशरणैः सद्भिर्गजेन्द्रद्रौपदीमुखैः ।
आहूत एव भगवानाविरासीज्जगत्पतिः ॥ ११ ॥

अनन्य शरण होकर गजेन्द्रादिने पुकारा तो तत्काल भगवान आये । ॥११॥

* कामैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः* ।

अन्याश्रयाणां नातः स्यादकामत्वं कथंचन ॥ १२ ॥

उन उन कामनाओंसे अपहृतज्ञान होने से अन्य देवताओंका आश्रयण करते रहते हैं । अतः अन्याश्रयी अकाम नहीं होते । ॥१२॥

ततोऽकामयमानत्वे हेतुरुक्तः समञ्जसः ।

न पारमेष्ठ्यमित्यादि वृत्रोऽपि तदिदं जगौ ॥ १३ ॥

अतः भक्ति की अकामयमानतामें हेतु संगत है । 'न पारमेष्ठ्यं, इत्यादि से वृत्रने यही [अनन्याश्रयता] कही।

* अपि कीटः पतङ्गो वा भवेयं शङ्कराज्ञया ।

न तु शक्र त्वया दत्तं त्रैलोक्यमपि कामये* ॥ १४ ॥

इत्यादावपि चानन्याश्रयतैव निरूपिता ।

तथाविधानां भक्तानां कामः क्वेव प्रसज्यते ॥ १५ ॥

शंकर की आज्ञासे मैं कीट और पतंग भी बनूं । पर हे इन्द्र मैं तुम्हारा दिया हुआ त्रैलोक्य भी नहीं चाहूँगा । इत्यादि वचनों में भी अनन्याश्रयता ही बतायी है । वैसे भक्तों में भला काम कहाँ प्रसक्त होता है ।

ॐ

तद्विरोधिषु पूर्वोक्तमौदासीन्यं यतो भवेत् ।

तत्कीर्त्यतेऽधुना तत्स्थं साध्यसाधनलक्षणम् ॥ १ ॥

पूर्वोक्त उदासीनताका उपाय कहते हैं । यह साधन रूपसे उपाय है और साध्य रूपसे उदासीनतामें प्रविष्ट है।

लोकेवेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता ॥

लोक और वेदमें भगवदनुकूलकर्म को करना विरोधियों में उदासीनता है।

लौकिकीं भगवत्सेवां मार्जनालेपनादिकम्।
विदधानस्य सततं प्रेम संवर्धते हृदि ॥ २ ॥

मन्दिरमार्जनादि लौकिकसेवासे भक्ति बढती है।

तथैव वैदिकीं सेवां पूजास्तुतिनमस्कृतीः।
कुर्वाणस्योदितप्रेम्णो विरोधी क्वोपतिष्ठताम् ॥ ३ ॥

एवं पूजादि वैदिकसेवा करते हुए भक्तसे विरोधी कार्य हो भी कैसे।

तत्सेवारसिकानां न तद्विरोधिरुचिर्भवेत्।
रसालरसतृप्तेभ्यः कुटजः किं नु रोचताम् ॥ ४ ॥

सेवारसिकोंकी प्रेमविरोधियोंमें रुचि नहीं हो सकती। रसालरससे तृप्त कुटज को क्या पसंद करेगा।

तदानुकूल्यकरणाद् विरोधी हीयते स्वयम्।
सूर्यातपे समापन्ने स्वयं शैत्यं प्रशाम्यति ॥ ५ ॥

अनुकूलाचरणसे विरोधी स्वयं छूट जाता है। जैसे सूर्योदय होने पर ठंडी आप हो शान्त होती है।

ननु चात्र विभागेन व्याख्याने सांख्ययोगयोः।
मा प्रसाङ्क्षीद्विरोधः स भवेदेव मतान्तरे ॥ ६ ॥
अत्राहुर्न्यासशब्दार्थसंकोचान्न विरोधिता।
भगवत्पूजनाद्यन्यन्यासः पूर्वं विवक्षितः ॥ ७ ॥

सांख्य और योग के विभाग विना व्याख्यान पक्षमें पूर्वोक्त संन्यास और यहां उक्त कर्माचरण विरुद्ध होगा। इस पूर्वपक्षका उत्तर यह है कि पूजादि से अन्य कर्म-संन्यास पूर्वविवक्षित है। अतः विरोध नहीं है। ॥६-७॥

नन्वसंन्यसिनो नित्याकरणे प्रत्यवायिता।
न च नित्यानि तस्यानुकूलानीति तु साम्प्रतम् ॥८॥
सन्ध्यावन्दन भद्रं ते भो स्नान भवते नमः।
इत्यादिषु प्रतिक्षेपो नित्यादेरपि हीक्ष्यते ॥९॥

शंकाः—असन्यासी नित्यादि छोडे तो प्रत्यवायका भागी होगा। यदि कहें कि नित्यादि भी तदनुकूलाचारण है तो ठीक नहीं क्यों कि संध्यावन्दन भद्रमस्तु भवते इत्यादि बिल्वमंगलस्तव में संध्यावन्दनादि का भी प्रतिक्षेप देखनेमें आता है।

तदसत् प्रत्यवायो न भगवत्सेविनां भवेद्।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयामीत्युदीरणात् ॥ १० ॥

यह शंका असंगत है। कारण गीतामें भगवानने सर्वधर्मान् परित्यज्य श्लोकमें सर्व पाप मोक्षण भक्तोंका बताया है।

* शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्* ॥११॥
इत्येवं प्रत्यवायादिनिराकरणतत्परम्।
बहुधा दर्शितं पूर्वं तत्र तत्र स्थितं वचः ॥ १२ ॥

शृण्वतां इत्यादि पहले पाप नाशक बताया है।

किंच येषां द्विजत्वादेरभिमानो भवेन्नृणाम् ।
अधिक्रियन्ते सर्वेषु कर्मस्वेत इति ध्रुवम् ॥ १३ ॥
वक्ष्यत्यत्र च जात्यादेरभिमानविहीनताम् ।
तथा चानधिकारित्वात्प्रत्यवायो न विद्यते ॥ १४ ॥
सेवकत्वाभिमानित्वात्सेवायामधिकारिता ।
सिद्धानां भगवत्सेवाकरणं तु स्वभावतः ॥ १५ ॥
अत्राद्या योगिनां ज्ञेया द्वितीया न्यासिनां स्थितिः ।
कार्यकारणरूपत्वमुभयोस्तेन संमतम् ॥ १६ ॥

दूसरी बात, जिनमें द्विजत्वादिका अभिमान है वे ही कर्म के अधिकारी हैं। और सूत्रकार आगे जात्यादि अभिमाना भाव बतायेंगे। अतः कर्मानधिकारी होने से प्रत्यवाय नहीं हो सकता। हाँ मैं सेवक हूँ यह अभिमान रहता है अतः सेवामें अधिकार होता है। सिद्धोंमें वह भी अभिमान नहीं रहता फिर भी स्वभावतः वे सेवामें लगे रहते हैं। इनमें प्रथम योगियोंकी और द्वितीय न्यासियोंकी स्थिति है। दोनोंका कार्यकारणभाव अत एव सिद्ध है।

* संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति* ॥ १७ ॥
* न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्य पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति* ॥ १८ ॥
* कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
इत्येवं तत्र तत्रोक्तं गीतायां हरिणा स्वयम्* ॥ १९ ॥

एतदर्थ "संन्यासस्तु" इत्यादि गीताश्लोक द्रष्टव्य है।

ननु स्वभावतोऽप्येव न कर्मात्र प्रतीयते ।
अन्यथाऽसंभवं ब्रूयान्न त्वाप्तुं दुःखमित्यदः ॥ २० ॥
मैवं स्वरूपतस्त्यागः स्वाभाव्यकरणं तथा ।
उभयोऽप्येव संन्यास इति संगच्छते वचः ॥ २१ ॥

शंकाः—उक्त श्लोकोमें स्वरूपतः कर्मत्याग ही संन्यास पदसे मालूम पडता है न कि स्वभावतः सेवादि करना अन्यथा दुःखमाप्तुं न कहकर असम्भव कहते । उत्तर यह है कि स्वरूपतः कर्मत्याग और स्वाभाविक कर्मकरण दोनों ही संन्यास होने से संगति है ।

* नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन* ।
उभयस्यापि तत्रैवं संभवस्य प्रदर्शनात् ॥ २२ ॥

अत एव करें या न करें कोई विशेषता नहीं इस प्रकार दोनोंका संभव बताया गया ।

संन्यासमार्गपथिकाः संत्यजन्ति स्वरूपतः ।
योगमार्गप्रवृत्तास्तु भवन्त्युभयथा बुधाः ॥ २३ ॥

संन्यास मार्ग से चलनेवाले स्वरूपतः त्याग करते हैं । और योगमार्गसे चलनेवाले दोनों प्रकार से होते हैं ।

ननु न श्रवणादीनां त्यागो युक्तः स्वरूपतः ।
तथा सति च को नाम विशेषः सांख्ययोगयोः ॥ २४ ॥
उच्यते विधिसंप्राप्ताचरणग्रहणादिह ।
विशेषः श्रवणादौ स्यादुक्ताचरणपूगतः ॥ २५ ॥
अन्यथा व्यर्थतां याति लोकवेदविशेषणम् ।
तस्यानुकूलाचरणमात्रोक्त्या चारितार्थ्यतः ॥ २६ ॥

विधेयकर्मन्यासार्थं पूर्वत्रापि विशेषणम् ।
लोकवेदेति नो चेच्च वैयर्थ्यं तत्र च स्फुटम् ॥ २७ ॥
विध्यगोचरकर्माणि त्याज्यानि न हि सर्वथा ।
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ॥ २८ ॥

शंकाः—संन्यासी भी स्वरूपतः श्रवण कीर्त्तनादि त्याग नहीं करता । तब सांख्य और योगमें क्या फरक पडा । समाधान यह कि विधिप्राप्त आचरण यहाँ अनुकूलाचरण शब्द से विवक्षित है । अतः श्रवणादिमें विशेषता है । अन्यथा लोकवेद पद व्यर्थ होता । तदनुकूलचरणमात्र कहने से गतार्थता होती । विधिविषय कर्म संन्यासार्थ ही पहले भी लोकवेद विशेषण दिया । नहीं तो वहाँ भी विशेषण व्यर्थ पडता । विध्यगोचर कर्मोंका त्याग नहीं है और संभव भी नहीं है ।

ननु च श्रवणाद्यं हि दृश्यते विधिगोचरम् ।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ॥ २९ ॥
मैवं कृत्य इहार्हार्थे सिद्धानां विध्यसंभवात् ।
नित्यं च श्रवणादीति प्रागेव विनिरूपितम् ॥ ३० ॥

शंकाः—श्रवणादि भी विधि विषय है श्रोतव्य इत्यादि । उत्तरः—अर्हार्थमें कृत्य प्रत्यय है । क्यों कि सिद्धकी विधि नहीं हो सकती । श्रवणादि नित्य है यह बतला चुके हैं ।

* स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः* ॥ ३१ ॥
इत्यत्र सर्वफलदा भक्तिरित्याशयो गिरः ।
न पुनः स्मरणादीनां विधिरित्याशयोऽत्र हि ॥ ३२ ॥

स्मर्तव्य इत्यादि से भी सर्वफलप्रद भक्तिको बताया न कि विधित्व ।

किं च साधनकालेऽस्तु वैधीत्वं किन्तु सिद्धितः ।
वैधीत्वाभावतो वैधसंन्यासो गम्यते ध्रुवम् ॥ ३३ ॥
साधनावसरेऽप्येव प्रसिद्धविधिहानतः ।
सांख्यमित्युच्यते योगः प्रसिद्धविधिधारणात् ॥ ३४ ॥

और साधनकालमें वैधी होने पर भी सिद्धिकालमें वैधी न रह जाने से वैधका त्याग तो हो ही जाता है । प्रसिद्धविधिका त्याग होने से सांख्य और उसके धारण से योग यह विशेषता समझनी चाहिये ।

अत्र व्याचक्षते केचित्स्वाधिकारानुरोधतः ।
विहितानि हि कर्माणि वेदशास्त्रेषु देहिनाम् ॥ ३५ ॥
तत्तद्वर्णाश्रमस्थानां नान्यकर्म सुखावहम् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३६ ॥
स्वाधिकारानुकूलं हि भक्तः कर्म समाचरेत् ।
सेवादिष्वधिकारोऽस्य न तु यागादिकर्मसु ॥ ३७ ॥
अत एव न वेदादितिरस्कारोऽस्य दूषणम् ।
अधिकारानुकूलानां वैदिकानां समाश्रयात् ॥ ३८ ॥

कुछ लोगोंकी व्याख्या यहाँ इस प्रकार है कि अधिकारानुसार वेदशास्त्रोंमें कर्मविधान किया है । अपने वर्णाश्रमानुसार विहित कर्ममें निधन भी श्रेयका कारण है । परधर्म तो भयका कारण है । भक्त भी अपने अधिकारानुसार कर्म करें । सेवादिमें भक्तका अधिकार है । यागादि

में नहीं। अतएव वेदतिरस्कारदोष नहीं है। क्यों कि अधिकारानुकूल वैदिककर्म को भक्तने ग्रहण किया है।

तच्चिन्त्यं न हि भक्तानामन्यकर्म भयावहम्।
भक्त्यैव सर्वदोषाणां परिहाराभिधानतः॥ ३९॥

उक्त मत चिन्त्य है कारण भक्ति से सर्व दोष परिहार होता है तो परधर्म भयावह किस प्रकार?

न च पार्थं भक्तमपि परधर्मान्न्यवारयत्।
इति वाच्यं यतो मोहमात्रं कृष्णो न्यवारयत्॥ ४०॥
अत एवान्ततः प्रोक्तं यथेच्छसि तथा कुरु।
अन्यथा कुरु धर्मं हीत्यवक्ष्यच्छिष्यमर्जुनम्॥ ४१॥

तो क्यों भक्त अर्जुन को भगवानने परधर्म से निवृत्त किया? उत्तर यह कि भगवानने मोह मात्र निवृत्त किया है। अतएव अन्तमें यथेच्छसि तथा कुरु कहा। न कि परधर्म मत करो, स्वधर्म करो। शिष्यके नाते वैसा कहना चाहिये था।

किं चार्जुनस्य भक्तस्य स्वधर्मः स्याद्रणः कथम्।
सेवामात्राधिकारित्वं भक्तस्येति हि ते मतम्॥ ४२॥
यदि युद्धाद्यपि हरौ सेवैव स्यात्समर्पितम्।
तदा निर्धारणस्यात्र नानर्थक्यं कथं वद॥ ४३॥
तस्माद् भक्त्यनुरूपं यत्कर्म कुर्यात्तदेव हि।
नैवान्यदिति संप्रोक्तौ नाधिकारादिचिन्तना॥ ४४॥

और अर्जुन भक्त हैं फिर युद्ध अर्जुनका स्वधर्म कैसा? क्यों कि आपका मत है कि भक्त को सेवामें ही

अधिकार है। यदि युद्धादि कर्म भी भगवदर्पित होने पर सेवा ही है तब लोकवेदमें भगवदनुकूल जो होगा उतना करो यह निर्धारण व्यर्थ होगा। क्योंकि वैसे सभी कर्म सेवारूप हो सकता है। इसलिये जो भक्ति के अनुरूप कर्म हो वही करें दूसरा नहीं इसमें अधिकारादिका क्या प्रसङ्ग है ॥ ४२-४४ ॥

किं च शास्त्रान्तरात्प्राप्तं न्यायादप्यधिकारिणः ।
कार्यं स्वाधिकृतं कर्मेत्यविचार्यं ततोऽत्र तत् ॥ ४५ ॥

दूसरी बात यह है कि अधिकारी स्वाधिकृत कर्म ही करें यह अन्य शास्त्रसे तथा न्याय से प्राप्त है। उसका विचार यहाँ अनुपयुक्त है।

एतेनापाकृतं जात्याद्यभिमानविहायिनाम् ।
नैवाधिकृतिरित्युक्तं तत्कुतोऽत्र निरस्यते ॥ ४६ ॥

बहिः स्थित्वा तदस्माभिश्चिन्तितं दोषशङ्कया ।
न तु सूत्रार्थरूपेण किन्तु सूत्रार्थयुक्तये ॥ ४७ ॥

अभिमानविहीनत्वप्रयुक्तानधिकारतः ।
नैव स्यात्परधर्मत्वं जनकादावनीक्षणात् ॥ ४८ ॥

इससे इस शंकाका भी निराकरण हुआ कि पहले जात्यादि अभिमान न होने पर अधिकार नहीं रहता कहा अब उसीका खण्डन कैसे कर रहे हैं। क्यों कि कर्मत्याग प्रयुक्त दोषशंकाको लेकर हमने वह उपपादन किया, न कि वही सूत्रार्थ है ऐसा कहा। अभिमानाभावप्रयुक्तानधिकार से परधर्मता भी नहीं होती। ऐसा होता तो

क्षत्रियत्वाद्यभिमान न होनेसे राज्यशासनादि जनक के लिये परधर्म होता।

अग्रे च निश्चयोदूर्ध्वं वक्ष्यते शास्त्ररक्षणम्।
यदि स्यात्परधर्मत्वं कथं स्याच्छास्त्ररक्षणम्॥ ४९॥
न हि कश्चिद्यतिर्नाम गृहिकर्म समाचरन्।
शास्त्ररक्षां करोतीति केनापि व्यपदिश्यते॥ ५०॥
तस्माद्वर्णादिधर्माणां नैवास्ति परधर्मता।
भक्तेरननुरूपत्वे त्याज्य इत्येव च स्थितिः॥ ५१॥

ॐ

अगले सूत्रमें निश्चयोत्तर शास्त्ररक्षण कहेंगे। भला परधर्मरक्षण कहीं शास्त्ररक्षण माना जायेगा। कोई यति गृहस्थका कर्म करें तो कोई नहीं कहता कि यह शास्त्ररक्षण कर रहा है। इसलिये वर्णाश्रम धर्म कभी परधर्म नहीं हो सकता। हाँ भक्ति के अनुरूप न हो तो त्याग दो यही सिद्धान्त स्थिति है।

ॐ

यानि भक्त्यनुकूलानि दृश्यन्ते लोकवेदयोः।
तान्येवेति पुरा चाभिधित्सितं सावधारणम्॥ १॥
कथं तर्ह्यतथाभूतं विहितं जनकादिभिः।
औदासीन्यं न तेष्वासीदिति किं मन्यते भवान्॥ २॥

भक्त्यनुकूल कर्म ही करें यह पूर्वसूत्रमें सावधारण है। तब जनकादिने अन्य कर्म कैसे किया? क्या उनमें उदासीनता नहीं थी ऐसा आप मानते हैं?

● भवतु निश्चयादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ॥१२॥ ●

निश्चयोत्तर शास्त्ररक्षण भले हो।

अत्र ब्रूमो भवेदूर्ध्वं निश्चयाच्छास्त्ररक्षणम्।
तावता जनकादौ हि नौदासीन्यं विहीयते ॥ ३ ॥

उत्तर यह कि निश्चयोत्तर शास्त्ररक्षण हो। इतने से जनकादिमें औदासीन्यकी हानि नहीं हो सकती ॥ ३ ॥

कर्तृत्वमतिपूर्वं च साहंकारं च कर्म यत्।
तदौदासीन्यभावस्य भवेद्विगमकं नृणाम् ॥ ४ ॥
व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा।
समाकर्त्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्त्तताम् ॥ ५ ॥
कर्त्ता तु हरिरेवाहं निमित्तं केवलं ततः।
यथा प्रवर्त्तयत्येष प्रवर्त्तेऽहं तथा सदा ॥ ६ ॥

कर्तृत्व और अहंकार पूर्वककर्म ही औदासीन्य विघटक है। मैं अकर्त्ता हूं प्रारब्धानुसार कोई भी कर्म भले मुझसे हो। कर्ता हरि हैं, मैं निमित्त हूं, वे जैसे करावे वैसा मैं करता हूं ॥ ४-६ ॥

* ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया* ॥ ७ ॥
निमित्तमात्रमेधि त्वं जहि शत्रून् हतान् मया।
इत्येवमर्जुनं प्राह भगवान् देवकीसुतः ॥ ८ ॥

ईश्वर सब के हृदयमें रहकर यन्त्रारूढ समान प्राणियों को घूमाता है। हे अर्जुन तुम केवल निमित्त बनो, शत्रुओं को तो मैंने ही मार दिया है (गीता)।

एतादृङ्निश्चयादूर्ध्वं संभवेत् शास्त्ररक्षणम् ।
कर्मान्तरस्थितानामप्यौदासीन्यं तदाञ्जसम् ॥ ९ ॥
* यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते* ॥ १० ॥
अत्राहंकारशून्यस्य हननादिषु कर्मसु ।
कर्तृत्वाभावकथनादौदासीन्यं समञ्जसम् ॥ ११ ॥

ऐसा निश्चय हो तो शास्त्ररक्षण होने पर भी औदासीन्य संभव है । अहंकार न हो और बुद्धि लिपायमान न हो तो मारता हुआ भी नहीं मारता और न बंधनमें पडता इस गीतावचनमें कर्तृत्वभोक्तृत्वाभाव कहकर औदासीन्य सूचित किया है ॥ ९-११ ॥

* यत्कृतं यत्करिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम् ।
त्वया कृतं तत्फलभुक् त्वमेव परमेश्वर* ॥ १२ ॥
यद्वा भगवदर्थत्वं वेत्ति यः सर्वकर्मणाम् ।
तद्बोधदार्ढ्यमेवात्र निश्चयद्रढिमा मतः ॥ १३ ॥

अथवा सब कर्म भगवदर्थ समझना निश्चयदार्ढ्य है ।

वस्तुतः प्रेमदार्ढ्ये हि वाच्ये निश्चयदार्ढ्यगीः ।
आचार्यतां गमयितुं निश्चयैकान्तवच्चतः ॥ १४ ॥
प्रामाणिकतया यं हि लौकिका मन्वते गुरुम् ।
लोकसंग्रहहेतोर्हि स कुर्याच्छास्त्ररक्षणम् ॥ १५ ॥

वस्तुतः प्रेमदार्ढ्यादूर्ध्वं न कहकर निश्चयदार्ढ्यात् ऐसी उक्ति आचार्यतासूचनार्थ है । जिसको लोग प्रामाणिक गुरु मानें वे लोकसंग्रहार्थ शास्त्ररक्षा करें ॥ १४-१५ ॥

न निश्चयद्रढिमनि नियमः प्रेमयोगिनाम् ।
यशोदाप्रभृतेर्नैव द्रढिमायमवेक्षितः ॥ १६ ॥
न चैवं परमप्रेमसद्भावो नेति सांप्रतम् ।
नारदस्त्वितिवक्तव्यलक्षणोदाहृतित्वतः ॥ १७ ॥
तस्मादन्यत्प्रेमदार्ढ्यं निश्चयद्रढिमेतरः ।
तथा चाचार्यतार्थाप्त्यै निश्चयद्रढिमेरणम् ॥ १८ ॥
इत्थं च रक्षापदमप्यर्थवद् भवति स्फुटम् ।
कर्मानुष्ठानमाख्यास्यदन्यथा मुनिपुङ्गवः ॥ १९ ॥
शास्त्रोपकारं कुरुते भक्तः शास्त्रीयमाचरन् ।
न स्वीयं कृतकृत्यत्वात्ततो रक्षणमब्रवीत् ॥ २० ॥

प्रेमियोंमें निश्चयदृढताका कोई नियम नहीं है। जैसे यशोदा आदि। फिर भी उनमें परम प्रेम रहा। नारदीय परमप्रेमका वे उदाहरण हैं। अतः प्रेमदार्ढ्य अलग है, निश्चयदार्ढ्य अलग है। आचार्य अर्थ लाभार्थ हो निश्चय-पद है। रक्षणपद भी इसीलिये सार्थक है। अन्यथा कर्मानुष्ठान ही कहते। भक्त कर्म कर शास्त्रोंका उपकार करता है। स्वयं वह कृतकृत्य है ॥ १६-२० ॥

शासनाच्छास्त्रमित्याहुः शासनीयोपलक्षणम् ।
शिष्यरक्षार्थतः शास्त्रशब्दोऽप्याचार्यमिङ्गयेत् ॥ २१ ॥

अब्रवीच्छङ्करानन्दमुनिर्गीतार्थवर्णने ।
लोकसंग्रहकर्मापि ह्याचार्यस्येति विस्तरात् ॥ २२ ॥

ॐ

शास्त्रपदका शासनीयशिष्यमें उपलक्षण है। शिष्य-रक्षार्थ आचार्य कर्म करें। यह श्री शंकरानन्द यतिने गीता टीकामें विस्तार से बताया।

ॐ

ननु सर्वाणि कर्माणि विदधाति हरिः स्वयम्।
इति निश्चयवान् कस्माच्छास्त्रं रक्षतु भक्तियुक्॥ १॥
न च शिक्षयितुं लोकान् शिक्षकोऽपि हरिर्यतः।
स एवासाधु कर्मापि कारयत्यत्र का व्यथा॥ २॥

जब हरि ही सर्वकर्मकर्त्ता है तो भक्त क्यों शास्त्र रक्षा करें? लोक शिक्षार्थ? शिक्षक भी तो हरि है। वही असाधु कर्म भी कराता है। इसमें क्या फिकर!।

● अन्यथा पातित्याशङ्का॥ १३॥ ●

अन्यथा पतनकी आशंका रहती है।

उच्यते, भगवान् कृष्णो गीतायां लोकसंग्रहम्।
प्रस्तुत्य विदुषामाह स्पष्टमुत्तरदायिताम्॥ ३॥
* यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ४॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः*॥ ५॥
* न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्*॥ ६॥

उत्तर यह:—कि भगवानने ही लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेका आदेश दिया है। मैं यदि कर्म न करूँ तो मेरा

अनुकरणकर लोग पतित होंगे और मैं संकरदोषकारी होकर जगतका नाश कारण बनूंगा। अतः अज्ञानियोंका बुद्धिभेद कोई भी विद्वान न करें ॥ ३-६ ॥

अत्र संकरकर्तृत्वमुपहन्तृत्वमेव च ।
स्वदृष्टान्तं पुरस्कृत्य विदुष्यारोप्यते द्वयम् ॥ ७ ॥
न हि विष्णोः सदोषत्वमदोषस्य कथंचन ।
विदुषां हि सदोषत्वं स्वदृष्टान्ताद्विवक्षितम् ॥ ८ ॥
कर्माकरणतो नैव विदुषां प्रत्यवायिता ।
परपातित्यहेतुत्वे पातित्यं विदुषामपि ॥ ९ ॥

स्वदृष्टान्त से भगवानने संकरकर्तृत्व और उपहन्तृत्व विद्वानमें आरोपित किया। अदोष भगवानको दोष कैसे लग सकता है?

उन्मत्तमूकजडवत् पिशाचबधिरान्धवत् ।
वर्त्तमाना निजश्रैष्ठ्यं नाविश्चक्रुरतो बुधाः ॥ १० ॥
ये हि संन्यासिनो भक्ता वनेषु मरुभूमिषु ।
अन्यत्राज्ञातमाहात्म्यास्तत्पातित्यं न जायते ॥ ११ ॥
यत्रापि ज्ञातमाहात्म्यानपि नैवानुकुर्वते ।
तत्रापि न हि पातित्यमित्याशङ्कापदं धृतम् ॥ १२ ॥

कर्म न करने से विद्वान को प्रत्यवाय नहीं लगता। किन्तु दूसरों के पतनकारण बने तो प्रत्यवाय अवश्य होगा। इसी लिये ज्ञानी उन्मत्त मूकादिवत् रहते थे। अनुकरणकारी न हो तो कहीं भी कैसे भी रहें, प्रत्यवाय नहीं होगा। इसीलिये सूत्रमें आशंका पद है ॥ ९-१२ ॥

अलौकिकपरप्रेमप्राप्तये कृतनिश्चयैः ।
तथानिश्चयदार्ढ्यौर्ध्वं कार्यं कर्मेति केचन ॥ १३ ॥
तन्न, कार्यं पूर्वमपि निश्चयादूर्ध्वमेव च ।
कर्मेत्यव्यावर्त्तकत्वादुक्तिर्वैयर्थ्यमाप्नुयात् ॥ १४ ॥

प्रेम प्राप्ति करनेका निश्चय करने के बाद कर्म करें ऐसा सूत्रार्थ किसीने किया है। तो क्या उससे पूर्व कर्म नहीं करना है? करना है तो सूत्र ही व्यर्थ हो जायगा।

अन्ये तु प्रेम संप्राप्तं मयेति दृढनिश्चयात् ।
ऊर्ध्वं कार्या शास्त्ररक्षा पातित्याशङ्कया नृभिः ॥ १५ ॥
तन्न, प्रेमपरिप्राप्तेः पश्चात् पातित्यसंभवे ।
सुतरामेव पूर्वं सः, क्व त्यागः स्थानमाप्नुयात् ॥ १६ ॥

प्रेम प्राप्त हो गया ऐसा निश्चय होने पर कर्म करना चाहिये इत्यादि व्याख्या भी पूर्ववत् है ॥ १५-१६ ॥

इतरे तूर्ध्वमिति हि सावधारणमुच्यते ।
निश्चयादूर्ध्वमेवास्तु न पूर्वं शास्त्ररक्षणम् ॥ १७ ॥
अन्यथा शास्त्ररक्षादिचिन्ताव्यग्रमनस्तया ।
पातित्यं भवति प्रेम्णः प्रेमिणो वेति संजगुः ॥ १८ ॥
तदसत्, शास्त्ररक्षेति काम्यं वा नित्यमेव वा ।
ईश्वरार्पणकर्माहो विवक्षितमितीर्यताम् ॥ १९ ॥
आद्य प्रेमपरिप्राप्तेरूर्ध्वं काम्यं कथं भवेत् ।
द्वितीये नैव पातित्यसंभवो नित्यकर्मभिः ॥ २० ॥
* स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात् * ।
* स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः * ॥ २१ ॥

* स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः * ।

इत्यादिवचनव्रातात् पातित्ये हेत्वभावतः ॥ २२ ॥

अन्य व्याख्या:—निश्चयोर्ध्वं ही शास्त्ररक्षा हो, पूर्व नहीं । अन्यथा शास्त्ररक्षाकी चिन्ता से ही पतन होगा। यह व्याख्या अच्छी नहीं है । क्यों कि शास्त्ररक्षाका काम्य कर्म अर्थ है तो प्रेमके बाद वह संभव नहीं है । और नित्यकर्म प्रेमका बाधक नहीं साधक है यह गीतामें स्फुट है ॥ १७-२२ ॥

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्येत्युक्तेन वचनेन हि ।

तृतीयोऽपि निरस्तः स्यात्पक्षः पातित्यसाधकः ॥ २३ ॥

यज्ञदानादिकर्माणि काम्यत्वेनोदितान्यपि ।

स्यात्संयोगपृथक्त्वेन हरितोषकराणि हि ॥ २४ ॥

ईश्वरार्पण कर्म से पतन संभव ही नहीं । यहाँ तक कि काम्यकर्म भी संयोगपृथक्त्वन्याय से साधक हैं ।

ननु भो प्रेममग्नस्य सन्ध्याकर्मादिचिन्तनम् ।

विघातकं स्याद् नैवं स्यादीशाज्ञापरिपालनात् ॥ २५ ॥

किं च तन्निश्चयोर्ध्वं न कस्मात्प्रेमविघातकम् ? ।

अविच्छिन्नं प्रेम यदि वर्धमानं च तद् ध्रुवम् ॥ २५ ॥

शंका:—प्रेममग्न के लिये सन्ध्यावंदनादि चिन्ता विघातक है । उत्तर:—ईश्वराज्ञापालन विघातक कैसा ? । और निश्चय के बाद वह विघातक क्यों नहीं? यदि कहो-प्रेम अविच्छिन्न है तो वह वर्धमान भी है ॥ २५-२६ ॥

नन्वेवं कर्मसंन्यासः कथमुक्तः पुरेति चेत् ।

कर्मचिन्तादिराहित्यात् प्रेम्णः शीघ्रप्रवर्धनात् ॥ २७ ॥

न हि प्रवृद्धयशैघ्रयं हि पातित्यमिति कथ्यते ।
पातित्यशब्दशक्तिर्हि दृष्टा नैतादृशी क्वचित् ॥ २८ ॥
आशङ्कावचनं च स्याद् व्यर्थं तावद्भवन्मते ।
प्रेमघातभयं युक्तं वृद्धयशैघ्रयमकिंचन ॥ २९ ॥
येषां तु प्रेम नोद्भूतं किंचिदप्येव चेतसि ।
कर्त्तव्यमेव तैः कर्म न त्याज्यं शास्त्ररक्षणम् ॥ ३० ॥
निष्ठे च द्वे पृथक् प्रोक्ते तेनासंन्यस्तकर्मणाम् ।
नैवात्र वृद्धयशैघ्रयादिचिन्ताप्येव प्रवर्त्तते ॥ ३१ ॥

पहले कर्मसंन्यास प्रेमकी शीघ्रवृद्धि के लिये कहा। शीघ्र न बढना यह कोई पतन नहीं है। आशंका शब्द भी प्रेमघात के लिये उपयुक्त है। न कि शीघ्राऽवृद्धि के लिये। प्रेम उत्पन्न न हुआ हो तो कर्म करना ही चाहिये। और कर्मनिष्ठा तथा संन्यासनिष्ठा ये दो पृथक् मार्ग हैं। इनमें शीघ्रवृद्धयभावादि चिन्ता ही कैसे? ॥ २८-३१ ॥

तस्मात् प्रामाणिकत्वेन विज्ञाता लौकिकैर्हि ये ।
तैर्लोकसंग्रहं कर्त्तुं कर्त्तव्यं शास्त्ररक्षणम् ॥ ३२ ॥
स्यात्संकरादिकर्तृत्वप्रयुक्तं पापमन्यथा ।
भगवद्वचनादेव नारदव्याहृतेरपि ॥ ३३ ॥

अतः गीतोक्त लोकसंग्रह सिद्धान्त ही यहाँ विवक्षित है।

ननु कीदृशपातित्यं सिद्धानां भवतोच्यते ।
न च तन्निरयप्राप्तिस्तेषां तद्भीत्यभावतः ॥ ३४ ॥
* नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः* ॥ ३५ ॥

ऊरीचक्रेऽम्बिकाशापं चित्रकेतुरतो मुदा ।
प्राप्यापि राक्षसीं योनिमभजत् स हरिं पुरा ॥ ३६ ॥
सत्यं न नीचयोन्यादिप्राप्तौ किंचिद्विहीयते ।
किन्तु तत्रैव भगवद्विस्मृतौ किं न हीयते ॥ ३७ ॥
* सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूकता ।
यन्मुहूर्त्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत्* ॥ ३८ ॥

भक्त स्वर्गनरकादिमें समदर्शी होने से उसका कौनसा पतन होगा? पार्वतीशाप से असुर बनने पर भी चित्रकेतु को दुःख नहीं हुआ। इस शंकाका उत्तर यह कि नीच योनि प्राप्ति से कोई हानि न हो, पर वहाँ भगवान् का विस्मरण हुआ तो वही भारी हानि है ॥ ३४-३८ ॥

नीचयोन्यादिसंप्राप्तिनिश्चये मा विभेत्वयम् ।
जानंस्तत्प्राप्तये कस्मात् प्रमादं कुरुतामसौ ॥ ३९ ॥
मृगयोनिं गतस्तत्र पूर्ववृत्तं स्मरन्नपि ।
वासुदेवपरश्चापि भरतो ह्यन्वतप्यत ॥ ४० ॥
* अहो कष्टमहं भ्रष्टः परादात्मवतां पथः ।
सुस्राव मे मनो भक्त्या वासुदेवसमाहितम्* ॥ ४१ ॥

नीचयोनिमें पडना अनिवार्य होने पर भले न डरें, किन्तु जानबूझकर प्रमाद क्यों करें। क्या मृगयोनिमें भक्त भरतको ताप नहीं हुआ था? ॥ ३९-४१ ॥

प्रायस्तु पतनं नैव भक्तानामुपजायते ।
अहं त्वा मोक्षयिष्यामीत्युक्तत्वाद्धरिणा स्वयम् ॥४२॥

* यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह* ॥ ४३ ॥
इत्याह च कविः किन्तु भरतादिनिदर्शनात् ।
क्वचित्पतनमप्यस्तीत्याशङ्कापदमादित ॥ ४४ ॥

प्रायः पतन नहीं होता। तथापि भरत दृष्टान्तसे कहीं पतन होता भी है। अतः आशंकापद है।

आशङ्क्येति केचित्तु तृतीयान्तमिहापठन् ।
तत्पक्षे लोकपातित्याशङ्कया शास्त्ररक्षणम् ॥ ४५ ॥
नो चेद् गुणविधानं स्याद् जुहोति पयसेतिवत् ।
न चेष्टं तद्भगवति नित्यविश्वस्तचेतसाम् ॥ ४६ ॥

ॐ

"पातित्याशङ्कया" ऐसा तृतीयान्तपाठ हो तो लोक-पतन शंका से शास्त्ररक्षा हो ऐसा अर्थ है। पतनकी शंका रखते हुए शास्त्ररक्षा करो अर्थ करने पर पतनाशंका की विधि होगी। भगवान पर भरोसा करनेवालों के लिये ऐसी विधि अयुक्त है ॥ ४५-४६ ॥

ॐ

शास्त्ररक्षा परार्थत्वात् भवेत् पातित्यशङ्कया ।
लोकव्यापाररक्षा तु न कर्त्तव्यावलोकयते ॥ १ ॥
लोकव्यापारहानौ हि नास्त्यज्ञस्यापि किल्बिषम् ।
तदभावन्न पातित्यशङ्का भक्तस्य काचन ॥ २ ॥

शास्त्ररक्षा परार्थं आवश्यक है। किन्तु लोकव्यापाररक्षा न करने से पाप या पतन नहीं हो सकता ॥१-२॥

लोकेऽपि तावदेव किन्तु भोजनादिव्यापारस्त्वा-
शरीरधारणावधि ॥ १४ ॥

लोकमें भी वही अवधि है जो शास्त्र के बारेमें कहा। हाँ भोजनादि व्यापर जब तक शरीर धारण है तब तक होता है।

अत्रोच्यते लोकहानौ तच्चिन्तावशगोऽज्ञधीः।
भगवद्भजने पूर्वं प्रवृत्तोऽपि निवर्त्तते ॥ ३ ॥
लौकिकव्यवहारोऽपि लोकानां भक्तिपोषकः।
स्वाश्रमाद्यविरोधेन भजद्भिर्निश्चयोत्तरम् ॥ ४ ॥

उत्तरः—लोकहानि होने पर संभव है कि अज्ञानी उस चिन्तासे भक्तिमें पूर्व प्रवृत्त भी निवृत्त हो। और वर्णाश्रमाविरोधी लोकव्यवहार भी भक्तिका पोषक है।

साधनावस्थितश्चेन्न लोकहानौ विचिन्तयेत्।
न ह्याचार्यत्वरूपेण प्रमाणीक्रियते स तु ॥ ५ ॥

साधक के लिये शास्त्ररक्षाके समान लोकरक्षा भी अवधेय नहीं है।

अत्रेदं तत्त्वमाचार्यो ज्ञानयोगे यदि स्थितः।
संन्यास एव तस्यानुगामिनो न्यासिनो यतः ॥ ६ ॥
कर्मिणो नानुकुर्वन्ति परमाचार्यमप्यमुम्।
आदेशमात्रं कुर्वीत् स कर्मिभ्यो नाचरेत् स्वयम् ॥ ७ ॥
नो चेद्विविदिषुर्न्यासी विपरीतं समाचरेत्।
अविरुद्धं तु संन्यासात्तस्याप्याचरणं मतम् ॥ ८ ॥

शास्त्रीय और लौकिक आचारोंमें यह रहस्य है कि संन्यासी आचार्य लोकसंग्रहार्थ भी उपदेश ही करते हैं कर्म नहीं। अन्यथा विविदिषुको भ्रान्ति होगी ॥६-९॥

ये पुनः कर्मयोगेन ह्याचार्याः परिनिष्ठताः।
कुर्युः कर्मैव ते नैव संन्यासस्तस्य युज्यते ॥ ९ ॥

गृहस्थ आचार्य कर्म ही करें ॥ ८ ॥

ये तु नाचार्यरूपेण स्वीकृता लौकिकैर्जनैः।
तेषां भक्तिजुषां कर्मसंन्यासः सर्वथा मतः ॥ १० ॥
अथ साधकभक्तेषु सांख्यस्थाः कर्म संत्यजेत्।
कर्मयोगस्थिताश्चैव कार्यं अर्म समाचरेत् ॥ ११ ॥

जो आचार्य नहीं वह कर्मसंन्यास ही करें। एवं साधकोंमें भी सांख्य योगी कर्म त्याग करें। कर्मयोगी कर्म करें ॥ १०-११ ॥

कर्मत्यागपरिप्राप्तौ व्यापारा भोजनादयः।
त्याज्या आहो नेति महान् संशयोऽयं प्रवर्त्तते ॥ १२ ॥
नन्वेष संशयो नैव युज्यतेऽनशने सति।
शरीरपातापतनाद् भक्तिः स्यादनवस्थिता ॥ १३ ॥
तन्न मृत्यौ सति हरिं सर्वथा स प्रपत्स्यते।
नैव तत्पतनं त्यागप्राप्तस्यैव विचारणात् ॥ १४ ॥
त्यागप्राप्तौ तदत्यागात्पातित्यं वैपरीत्यतः।
इत्यतः संशयो मुक्तः किन्त्वित्याद्युत्तरं मुनेः ॥ १५ ॥

एक संशयः—भक्त भोजनादि कर्म छोडे या नहीं।

भोजनाभावमें मृत्यु होगी तो भक्ति कौन करेगा ऐसी शंका अयुक्त है। कारण सिद्ध भक्तका विचार है। मृत्यु होने पर वह भगवानको प्राप्त होगा। वल्कि प्राप्त भोजनत्याग न करने से पतन संभव है। इसका उत्तर सूत्रमें "किन्तु" इत्यादि से दिया॥ १२-१५॥

द्वितीयं 'तु' पदं ह्यर्थे निश्चयार्थविबोधकम्।
न हि त्याज्या भोजनाद्या भक्तिहानिप्रसङ्गतः ॥ १६ ॥

* कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्* ॥ १७ ॥

* युक्ताहारविहारस्य* न चैकान्तमनश्नतः* ।
* विविक्तसेवी लघ्वाशी* त्युदितं तत्र तत्र हि ॥ १८ ॥

* जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे* ।
इत्युपक्रम्य कपिलो नरादिश्रैष्ठ्यमब्रवीत् ॥ १९ ॥
वैकुण्ठसेवनार्थत्वात्तस्य सार्थक्यमुच्यते ।
न तु जर्जरणं युक्तं भोजनादिप्रहाणतः ॥ २० ॥

भोजनादिका त्याग नहीं ही करें। शरीर के भूतोंको कृश करके हृदयस्थित मुझ परमात्माको क्लेश देना आसुरी संपत् है (गीता) भगवत्सेवोपयोगी होने से मानवशरीर की महिमा है। उससे भगवत्सेवा करें, न कि भोजनादि त्यागसे जर्जरित बनाएं॥ १६-२०॥

आङ्शब्दोऽवधिशब्दश्च द्वयमत्र प्रयुज्यते।
तेनावधिद्वयं सूत्रे विवक्षितमवेक्ष्यते ॥ २१ ॥

यावच्छरीरं कर्त्तव्या व्यापारा भोजनादयः ।
यावद्धारणमेवापि कर्त्तव्या भोजनादयः ॥ २२ ॥
शरीरयात्रामात्रार्थं कर्त्तव्यं भोजनादिकम् ।
न जिह्वालौल्यतो नापि मांसास्थिपरिपुष्टये ॥ २३ ॥

'आ' 'अवधि' ये दोनों पद सूत्रमें हैं। जबतक जीवन हो और जितने से शरीर धारण हो उतना भोजनादि करें। स्वाद के लिये नहीं और शरीर मोटा ताजा करने के लिये भी नहीं ॥ २१-२३ ॥

जन्मप्रभृतिमृत्यन्तमित्यर्थं कुर्वतेऽपरे ।
तत्र जन्मप्रभृत्युक्तेर्नावलोकामहे फलम् ॥ २४ ॥
भोक्तव्यं वा न भोक्तव्यमिति जातशिशुं प्रति ।
नैव प्रवर्त्तते क्वापि मीमांसा सुधियां यतः ॥ २५ ॥

जन्म से मरण तक ऐसा कुछ लोग अर्थ करते हैं। परंतु बच्चा भोजन करे या नहीं करें ऐसी मीमांसा भी कभी होती है !

संतानोत्पादनादीन्यप्यादिशब्दानि केचन ।
प्राहुः पराकृतं तच्च धारणावध्युदीरणात् ॥ २६ ॥
भोजनाद्यननुष्ठाने शरीरं निपेतद् यथा ।
पुत्राद्यनुत्पादनतो देहः किं निपतेत्तथा ॥ २७ ॥
महर्षयो नारदाद्या आचार्या, शंकरादयः ।
प्राज्ञा ज्ञानेश्वराद्याश्च दध्रिरे ब्रह्मचारिणः ॥ २८ ॥

सूत्रमें आदि पदसे पुत्रोत्पादनादिका ग्रहण कोई मानते हैं। वह गलत है। उसके बिना भी शरीर धारण नार-

दादि महर्षियोंमें शंकरादि आचार्योंमें ज्ञानेश्वरादि भक्तोंमें देखा गया है ।

कामाभिघातप्रभृतिं सोढुं ये त्वक्षमा जनाः ।
सेवन्तां तन्निवृत्त्यै ते कामं धर्माविरोधतः ॥ २९ ॥
लोके व्यवायप्रभृतिर्नित्यो नात्रास्ति नोदना ।
ततो निवृत्तये शास्त्रं विधत्ते परिसंख्यया ॥ ३० ॥
ततः कामाभिनिहताः साधका गृहिणो जनाः ।
प्रार्थयन्तु हरिं नित्यं कृन्धि भो हृच्छयं प्रभो ॥ ३१ ॥

जो कामवेगका सहन न कर सके वे भले ही धर्मानुसारी कामसेवन करें किन्तु हरि से नित्य प्रार्थना करें कि हे प्रभो मेरी वासना शान्त करो ।

सिद्धानामेव भक्तानां सूत्रेऽस्मिन् सूचना ततः ।
न पुत्रोत्पादनादीनां व्यापाराणामिह ग्रहः ॥ ३२ ॥

परंतु सूत्रमें सिद्ध भक्तोंका सूचन है । अतः आदिपद से पुत्रोत्पादनादि ग्राह्य नहीं है ॥ ३२ ॥

अत्र व्याचक्षते सन्तो भक्तिरक्षणसक्षणाः ।
भोजनादिव्यवहृतौ भावनीयां हि भावनाम् ॥ ३३ ॥
हरिसेवार्थमेवायं दत्तः कायो दयालुना ।
तद्रक्षणाय कुर्वेऽहं भोजनं नान्यहेतुना ॥ ३४ ॥
तल्लब्धये च भिक्षादिं कृष्यादिं वा करोम्यहम् ।
तेनान्येषां च लाभश्चेत्तेऽपि देवं भजन्तु तम् ॥ ३५ ॥

भावना करो कि भगवत्सेवा के लिये यह शरीर है ।

उसकी रक्षा के लिये भोजनादि और तदर्थं कृषि आदि भी करता हूं ॥ ३३-३५ ॥

नतु रक्षिष्यति हरिर्देहं चिन्ताऽत्र का मृषा ।
सत्यमल्पार्थतो भक्तो हरौ भारं न निक्षिपेत् ॥ ३६ ॥
ननु भारो हरेः क्वास्ति मास्तु किन्त्वस्ति भावना ।
माहात्म्यविस्मृतिः क्वापि भक्तस्याग्रे प्रवक्ष्यते ॥ ३७ ॥
अपिस्विन्निरये वासोऽनन्तकालान्तमस्तु मे ।
न तस्य क्षणमात्रं वा क्लेशं दातुं समुत्सहे ॥ ३८ ॥

देहरक्षादिका भी भार भगवान पर भक्त छोडना नहीं चाहता । यद्यपि हरिको कोई भार नहीं है । तथापि भक्तमें माहात्म्यविस्मृति से वैसी भावना होती है । अतः देहरक्षादि स्वयं करें यही उचित है ॥ ३६-३८ ॥

स्नानं करोमि सेवार्थं सेवे तमशुचिः कथम् ।
अशुचिं मामसौ वीक्ष्य विमनाः स्याद्यथाऽपरे ॥ ३९ ॥
शैत्यादिबाधया मा स्म रोगाक्रान्तवपुर्भवम् ।
तदा कुर्यां कथं सेवां ततो वस्त्रमहं दधे ॥ ४० ॥
किं च वस्त्राद्यनाधाने लोकाः परिचिता इमे ।
पीडयिष्यन्ति मां व्यर्थं च्यावयिष्यन्ति भक्तितः ॥४१॥
इत्थमन्यानि कर्माणि देहयात्रादिसिद्धये ।
अन्यादृक्कर्म कामानां विलास इति निश्चितम् ॥ ४२ ॥

सेवा के लिये स्नान करता हूं । लोग उपद्रव करेंगे तो भक्ति छूट जायगी अतः वस्त्र पहनता हूं इत्यादि भावना न हो तो कामभाव हो समझा जायगा ॥ ३९-४२ ॥

* यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्त्यो अमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते* ॥ ४३ ॥

काम रह गया तो अमृतरूपी भक्ति असंभव है ॥४३॥

* अहो धन्यो हि देवर्षिर्यः कीर्त्ति शार्ङ्गधन्वनः ।
गायंस्तत्त्वं बोधयंश्च रमयत्यातुरं जगत्* ॥ ४४ ॥

धन्याश्च जगदुद्धारहेतवो भगवज्जनाः ।
येषां शरीरयात्रापि परोपकृतये स्थिताः ॥ ४५ ॥

ॐ

उदाहरण देवर्षि नारदजी ही हैं जो भगवत्सेवार्थं ही सब करते हैं। परोपकारार्थं ही जिनका जीवन है वे सच्चे भक्त हैं ।

इति भक्तेरकामयमानत्वनिरूपणं चतुर्थम्

ॐ

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात् ॥१५॥

अब नाना मतभेदसे भक्ति के लक्षण कहते हैं ।

भक्तेर्ऋषिभिरुक्तानि स्वानुभूत्यनुरोधतः ।
लक्षणानि प्रदर्श्यन्ते साधकोपचिकीर्षुणा ॥ १ ॥

ननूक्तं परमप्रेम पूर्वमेव हि लक्षणम् ।
भक्तेरथ परप्रेम्णो लक्षणं वक्ष्यतेऽग्रतः ॥ २ ॥

सत्यं लिङ्गानि वाच्यन्ते न स्वरूपादिलक्षणम् ।
तान्यपूर्वाणि नोक्तानीत्यतोऽयं तदुपक्रमः ॥ ३ ॥

लक्षण पहले भी बताये हैं, परंतु यहाँ भक्ति के चिह्न बताये जायंगे ।

नतु सिद्धोऽमृतस्तृप्तो भवतीत्यादिना पुरा ।
लिङ्गान्यपि निरुक्तानि किमर्थोऽयमुपक्रमः ॥ ४ ॥
मैवं तानि तु लिङ्गानि नापूर्वाणीति मन्महे ।
योगिज्ञानिप्रभृतिषु तेषां समवलोकनात् ॥ ५ ॥

यद्यपि सिद्धो भवत्यमृतो भवति इत्यादि से लिंग भी बता चुके । तथापि वे योगी ज्ञानी आदिमें भी संभव है ।

यद्वा पूर्वत्र यल्लब्ध्वा यत्प्राप्येत्यादिशब्दगः ।
क्त्वाप्रत्ययः पूर्वकालवाची संसिद्धिसूचकः ॥ ५ ॥
तथा च परमां कांचिदवस्थां फललक्षणाम् ।
पूर्वं प्राहाधुना भक्तेः प्रकटं रूपमुच्यते ॥ ७ ॥
यथा गुर्वादिषु श्रद्धा फलं ज्ञानादि यच्छति ।
गुर्वादिसेवा श्रद्धायाः प्रकटं रूपमुच्यते ॥ ८ ॥
किं च भक्तौ निजावस्था कीदृशीत्युदिता पुरा ।
प्रेमास्पदं प्रति स्यात् सा कीदृशीत्यधुनोच्यते ॥ ९ ॥

अथवा पहले भक्तिका फल बताया, यहाँ प्रकटरूप कहा जा रहा है । जैसे गुरु आदि में श्रद्धाका फल तत्त्वज्ञानादि है, श्रद्धाका प्रकटरूप गुरुसेवा आदि है । और अपनी क्या अवस्था यह पहले कहा । भगवान के प्रति क्या स्थिति यह यहाँ पर कहते हैं ॥ ६–९ ॥

भक्तेरव्यक्तरूपं प्राग् व्यक्तमत्रेति केचन ।
समाध्यवस्था प्रागत्र व्युत्थानमिति चापरे ॥ १० ॥

पहले भक्तिका अव्यक्तरूप कहा यहाँ व्यक्तरूप। पहले समाधि अवस्था यहाँ व्युत्थानावस्था ऐसी व्याख्यायें हैं।

केचिन्निश्चयदार्ढ्यस्य तत्पदेन परिग्रहात्।
लक्षणान्यत्र तस्यैव कीर्त्यन्त इति संजगुः ॥ ११ ॥

तन्न प्रकरणस्यास्योपसंहारोपरोधतः।
प्रेम्ण एवोपसंहारः प्रकृतस्योपलभ्यते ॥ १२ ॥

माहात्म्यज्ञानशून्यं तज्जाराणामिति वक्ष्यते।
प्रेम जारपदव्यङ्ग्यं निश्चयद्रढिमा तु न ॥ १३ ॥

न तत्सुखसुखित्वं च जारप्रेमणि विद्यते।
इति संगच्छते व्याख्या प्रेमपक्षे न निश्चये ॥ १४ ॥

तत्र प्रेम समादाय व्याचख्युरखिला बुधाः।
तदिहोपक्रमे कस्मान्निश्चयद्रढिमेष्यताम् ॥ १५ ॥

निश्चयदार्ढ्य के यहाँ लक्षण हैं ऐसी व्याख्या संगत नहीं है। क्यों कि तद्विहीनं जाराणामिव इत्यादि उपसंहार प्रेमको लेकर ही घटता है, निश्चयदृढता को लेकर नहीं।

वस्तुतः कर्ममिश्रा च ज्ञानमिश्रा द्विमिश्रिता।
शुद्धा चेति चतुर्धा स्याद् भक्तिरित्युदितं पुरा ॥ १६ ॥

चतुर्भेदविभिन्नाया लक्षणानि यथाक्रमम्।
प्रदर्शितान्यग्रिमेषु सूत्रेषु विधिवद्गुना ॥ १७ ॥

इत्थं च लक्षणानीति बहुत्वमुपपद्यते।
अन्यथा लक्षणाभासादन्येषां तदसंगतम् ॥ १८ ॥

प्रतिज्ञासूत्रमप्येतदेवं भवति संगतम्।
अन्यथा पूर्वपक्षत्वसिद्धान्तत्वभ्रमो भवेत् ॥ १९ ॥

मतेत्यभिमतार्थोऽयं प्रकृत्याभिमतं पृथक् ।
रुचीनां खलु वैचित्र्याद् यथास्वं परिगृह्यताम् ॥ २० ॥
शुद्धायां पर्यवसितिः सर्वासामस्ति संमतम् ।
तस्मादस्त्येवमेवेति सूत्रं चाग्रे प्रवर्त्स्यति ॥ २१ ॥

ॐ

वस्तुतः कर्ममिश्रा, ज्ञानमिश्रा, उभयमिश्रा और शुद्धा ऐसे चार प्रकारकी भक्तिके यहाँ चार लक्षण हैं 'लक्षणानि' यह बहुवचन भी इससे संगत है। अन्यथा एक लक्षण और अन्य तीन लक्षणाभास होते। इसीलिये प्रतिज्ञासूत्रकी भी आवश्यकता पडी। अन्यथा पाराशर्यादिमत पूर्वपक्ष है और नारदमत सिद्धान्त है ऐसी भ्रांति होती। नाना मतका अर्थ है–नाना अभिप्राय जिसको जो रुचे वह उसको ग्रहण करें। यहाँ अन्तमें शुद्धामें पर्यवासान है। यही "अस्त्येवमेवं" सूत्रका अर्थ है ॥ १६–२१ ॥

ॐ

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥ १६ ॥

पूजादिमें अनुराग भक्ति है यह व्यासजीका मत है।

तत्रादौ कर्ममिश्राया लक्षणं विनिगद्यते ।
पाराशर्याभिधानं तु पूजार्थमिति गृह्यताम् ॥ १ ॥
यद्वा पराशरसुतः सिद्धोऽभूत्कर्ममिश्रया ।
ततस्तां प्रायशः प्राह लोकानित्यर्थ इष्यताम् ॥ २ ॥
लोकानामुपकारः स्यान्मुख्यतः पूजयेति वा ।
आशयानोऽभ्यधादेवं भगवान् बादरायणः ॥ ३ ॥

पूजादिमें अनुराग कर्ममिश्रा भक्ति है। लोगों को उससे शीघ्र रास्ता प्राप्त होगा अतः व्यासजीने उसे बताया।

पूर्वसंस्कारतः सिद्धौ जातायामपि भक्तितः।
पूर्ववत्खलु पूजादौ प्रवर्त्तन्ते मनस्विनः ॥ ४ ॥
तथा हि द्विविधा भक्तिर्वैधी रागानुगापि च।
तत्र वैधी विधिप्राप्तश्रवणादिरुदीर्यते ॥ ५ ॥
* तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा* ॥ ६ ॥
* मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेत विन्दति।
भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्* ॥ ७ ॥
इत्यादौ च प्रवृत्त्यात्मा निवृत्यात्माप्यसौ विधिः।
दृश्यते तत्प्रयुक्ता च वैधी भक्तिरभीप्सिता ॥ ८ ॥
उद्भूतायां पुनर्भक्तौ पूजादिर्यो विधीयते।
पूर्वसंस्कारतः सा तु भक्ती रागानुगा मता ॥ ९ ॥
विध्याभासस्तु तत्रापि विद्यते तेन तामपि।
कर्ममिश्रां निजगदुर्भक्तिं भक्तिविशारदाः ॥ १० ॥

भक्ति दो प्रकारकी होती है—वैधी और रागानुगा। पूजा करो श्रवण करो इत्यादि विधिप्राप्त वैधी है। और प्रेम उत्पन्न होने के बाद स्वयमेव पूजादिमें प्रवृत्ति रागानुगा है। वहाँ भी विधिका आभास होने से उसे भी कर्ममिश्रा ही कहते हैं ॥ ४-१० ॥

अनुरागेण पूजादिकरणप्रेरणादिकम्।
पूजादिष्वनुरागः स्याद् व्यासस्तां भक्तिमब्रवीत् ॥ ११ ॥

* य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः ।
विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥ १२ ॥

लब्धानुग्रह आचार्यात्तेन संदर्शितागमः ।
महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याभिमतयात्मनः* ॥ १२ ॥

* वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः* ।
इत्यादि तत्र तत्रोक्तमनुसन्धेयमत्र हि ॥ १३ ॥

अनुराग से पूजादि करना कराना देखना आदि सभी भक्ति है। आचार्य से दीक्षा प्राप्तकर अपने इष्टदेवकी मूर्त्तिकी वैदिक तान्त्रिक या मिश्र विधि से पूजा करें (विस्तार अन्यत्र देखें) ।

सुखानुशयनो रागः क्षणिको ह्यासुखस्थितेः ।
तत्पश्चात् स्थिररूपो यः सोऽनुरागोऽत्र द्युत्रितः ॥ १४ ॥
भगवद्रूपसौन्दर्यात्तुलसीदलसौरभात् ।
प्रसादमधुरिम्णश्च चित्तं प्राग् रज्यति प्रभौ ॥ १५ ॥
लब्धप्रसरपादं च मन आक्रामतीश्वरः ।
क्रमशः प्रेम हृदये तस्य संपद्यते सतः ॥ १६ ॥
तदा भवति पूजादावनुरागो महीयसः ।
पूजयंश्च ततो देवं मज्जत्यानन्दवारिधौ ॥ १७ ॥

राग क्षणिक होता है, तदनन्तरभावी अनुराग स्थिर होता है। भगवानके रूप सौन्दर्यादि से प्रथम राग होता है। सुराक मिल गया तो प्रभु हृदयमें पैस जाते हैं। उस समय प्रेम बढने लगता है तो अनुराग होता है।

केचित्तु भगवद्रागो जीवान् प्रति सदा स्थितः ।
तं रागं प्रति यो रागोऽनुरागं तं प्रचक्षिरे ॥ १८ ॥
तदसन्न हि भक्ताः स्युर्हरिरागव्यपेक्षिणः ।
रागं प्रति हि रागश्चेद् वणिग्वृत्तिरियं भवेत् ॥ १९ ॥
पिनष्टु मां पादरतं हन्तु मर्माहतं हि वा ।
प्राणनाथः स हि ममेत्येतद्गौराङ्गभाषितम् ॥ २० ॥

भगवान के राग के प्रतिराग अनुराग है ऐसी व्याख्या वणिग्वृत्ति बराबर है। मैं पाँवमें पड़ूँगा । भले मुझे पीस डालो, मार डालो, मेरे प्राणनाथ तुम कृष्ण ही हो इस गौराङ्गवचनमें भगवद्रागनिरपेक्षिता स्पष्ट है ॥१८-२०॥

विलक्षणोऽनुरागोऽयं भक्तानुभवगोचरः ।
यत्र दोषा अपि गुणा न स रागं प्रतीक्षते ॥ २१ ॥
तानि पात्राणि सा मूर्त्तिः सा सामग्री स्थलं च तत् ।
स एवाहं परं मेऽद्य सर्वं दिव्यं प्रतीयते ॥ २२ ॥
पश्यन्निव हरिं साक्षाद् भोजयन्निव पूजयन् ।
सेवैकव्याकुलमतिरेष तिष्ठति नित्यशः ॥ २३ ॥

ॐ

अनुराग विलक्षण होता है । जहाँ दोष भी गुण दिखाई पडते हैं वहाँ रागकी क्या प्रतीक्षा ? अनुरागकी ही महिमा है कि साधारण पात्र मूर्त्ति सामग्री दिव्य दीखने लगती है । उसे सेवामात्र चाहिये ॥ २३ ॥

ॐ

● कथादिष्विति गर्गः ॥ १७ ॥ ●

गर्गाचार्यका मत है कि कथादि में अनुराग भक्ति है।

प्रोचे विधिप्रधानेषु पूजादिषु महामुनिः ।
अनुरागं प्रेमलिङ्गस्वरूपं बादरायणः ॥ १ ॥
वैधाग्रहं परित्यज्य भजनं रसनात्मकम् ।
कथासंकीर्त्तनादौ हि गर्गो मुनिरवोचत ॥ २ ॥

विधिप्रधान पूजामें अनुराग व्यास मतसे भक्ति हुई।
विधिआग्रह छोडकर कथादिरति गर्गाचार्य मत से भक्ति है।

ननु पूजाविधौ तावत् कथादिरपि विद्यते ।
तथा च भगवान् पूजाप्रसङ्गेऽवोचतोद्धवम् ॥ ३ ॥
* उपगायन् गृणन्नृत्यन् कर्माण्यभिनयन् मम ।
मत्कथाः श्रावयन् शृण्वन् मुहूर्त्तं क्षणिको भवेत् * ॥ ४ ॥
अत्राहुः पुरुषार्थोऽयं स्वातन्त्र्येण कथादिकः ।
संयोगस्य पृथक्त्वेन पूजाङ्गमपि संभवेत् ॥ ५ ॥
क्वचित्कथादिश्रवणे पूजाप्यङ्गत्वमाप्नुयात् ।
सप्ताहश्रवणादौ तत् पाद्मादौ स्पष्टमीक्ष्यते ॥ ६ ॥
ज्ञानयज्ञत्वकथनात् ज्ञानमिश्रा प्रतीयते ।
विधिश्रवणतश्चैषा कर्ममिश्रापि गम्यते ॥ ७ ॥
* तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते * ॥ ८ ॥
इत्युक्तेः कर्मणश्च क्वाप्यत्यन्ताभाव ईक्ष्यते ।
न ज्ञानं न च वैराग्यमित्युक्तेरितरस्य च ॥ ९ ॥

कहीं कथा श्रवणादि पूजाका अंग भी होता है और सप्ताहादिमें पूजादि भी कथाका अंग होता है। संयोग पृथक्त्व न्यायसे अंगतामें विरोध नहीं है।

केचित् कर्मेन्द्रियापाद्ये पूजादौ रतिमब्रवीत्।
व्यासो गर्गः कथादौ च ज्ञानेन्द्रियसमुद्भवे॥ १०॥
तन्न प्रोक्तविभागस्य दुःसंपादत्वदर्शनात्।
कथादिश्रवणं नात्र विशिष्य परिकीर्त्तितम्॥ ११॥
कथादिश्रवणे किं वा कथादिकथने रतिः।
इति नात्र विशिष्योक्तस्तस्मात्तदुभयं भवेत्॥ १२॥
कथादीत्यादिना चात्र ग्राह्यं संकीर्त्तनादिकम्।
कर्मेन्द्रियाणां बहुलं विनियोगोऽत्र दृश्यते॥ १३॥
पद्भ्यां नृत्यन्ति हस्ताभ्यां वादयन्त्यपि तालिकाम्।
वाचा वदन्ति भगवन्नामलीलागुणादिकम्॥ १४॥
ध्यानमावाहनं मन्त्रश्रवणं मूर्त्तिदर्शनम्।
इत्यादि धीन्द्रियैः साध्यं पूजादावपि वीक्ष्यते॥ १५॥
किं च मानसपूजायाः परित्यागे न कारणम्।
नात्र कर्मेन्द्रियापेक्षा तथा चैकादशे वचः १६॥
* शैली दारुमयी लौही लेप्यालेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥ १७॥
द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः।
भक्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि*॥ १८॥

कुछ लोगोंका कहना है कि पूजादि कर्मेन्द्रिय साध्य है। कथादि ज्ञानेन्द्रिय साध्य है यही दोनोंमें भेद है। परंतु यह कथन असंगत है। कथा सुनना यहाँ अभिप्रेत है या कहना यह यहाँ पर नहीं बताया है। अतः दोनों ही ग्राह्य हैं। उनमें कहना कर्मेन्द्रिय साध्य है। कथादि इस आदिपद से संकीर्त्तन नृत्यादि सभी ग्राह्य है वे भी कर्मेन्द्रिय साध्य हैं। और पूजामें भी ध्यान आवाहनादि ज्ञानेन्द्रिय साध्य है। मानसपूजाकी तो बात ही क्या।

यल्लीलाकर्णपीयूषविप्रुट्पानहताशुभाः।
दीनं कुटुम्बमुत्सृज्य विहङ्गा भिक्षवोऽभवन् ॥ १९ ॥
अलंबुद्धिर्भवेद्येषां न विदुस्ते कथारसम्।
स्त्रिया विटा इव मुहुः सन्तो हरिकथां जगुः ॥ २० ॥
आस्यकोटिं कीर्त्तनाय श्रुतये श्रवणार्बुदम्।
चिन्तनाय मनोऽनन्तं नाम्नो रसविदोऽलषन् ॥ २१ ॥
* एवं व्रजस्त्रियो राजन् ! कृष्णलीला नु गायतीः।
रेमिरेऽहःसु तच्चिन्तास्तन्मनस्का महोदयाः* ॥ २२ ॥
* यावत्तव कथा लोके विचरिष्यति पावनी।
तावत् स्थास्यामि मेदिन्यां तवाज्ञामनुपालयन्* ॥२३॥
कथामृतं कविनुतं पापहं तप्तजीवनम्।
ततं श्रीमच्छ्रुतिशिवं येऽदुस्ते भूरिदा जनाः ॥ २४ ॥
* एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः।
वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः* ॥२५॥

इत्यादिवचनोद्दिष्टमाहात्म्येषु कथादिषु ।
परोऽनुरागो भगवत्करुणां नान्तरा भवेत् ॥ २६ ॥

(यदनुचरितलीला कर्णपीयूषविप्रुट्० इत्यादि श्लोकों को यहाँ कहीं शब्दतः और कहीं अर्थतः पढा गया है) इन श्लोकोंमें कथादिकी महिमा गायी है। कथादिमें अनुराग भगवत्कृपा के विना नहीं होता ॥ १८-२६ ॥

* नैषाऽतिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते ।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्* ॥ २७ ॥

* वयं धन्यतमा लोके गुरोऽपि क्षत्रबन्धवः ।
यत् पिबामो मुहुस्त्वत्तः पुण्यं कृष्णकथामृतम्* ॥ २८ ॥

* त्वया संकथ्यमानेन महिम्ना सात्वतां पतेः ।
नातितृप्यति मे चित्तं सुचिरं तापतापितम्* ॥ २९ ॥

अन्याबाधोऽतिधन्यत्वधीरतृप्तिः सुविश्रमः ।
रसैकरसतेत्येते ह्यनुरागानुगामिनः ॥ ३० ॥

ॐ

हरिकथामृतपान से मुझे भूख प्यास नहीं सताती; हरिकथा से हम नामधारी क्षत्रिय भी धन्यधन्य हो गये, तापतप्तचित्त मेरा हृदय हरिकथासे तृप्त ही नहीं हो रहा, इन वचनोंमें अन्य-अबाधा, अति धन्यत्व, अतृप्ति, विश्राम और रसमात्रानुभूति स्पष्ट हैं जो अनुराग के अनुगामी हैं।

ॐ

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥१८॥

आत्मरति के अविरोधी पूजाकथादिरति भक्ति है ऐसा शाण्डिल्य मत है ॥ १८ ॥

पूजादौ वा कथादौ वा योऽनुरागः स चेद्भवेत् ।
आत्मरत्यविरोधेन भक्तेर्लिङ्गं तदेव सः ॥ १ ॥
तथा चाहोभयपरां शाण्डिल्य इति सूत्रतः ।
शाण्डिल्यः स्वमतं जीवपरमात्मपरां रतिम् ॥ २ ॥

पूजा कथा आदिमें आत्मरति से अविरुद्ध अनुराग ही शाण्डिल्य ऋषिने "उभयपरां शाण्डिल्यः" इस सूत्र से भक्तिलिङ्ग बताया ।

केचित्तु पृथगेवामुं शाण्डिल्यं सूत्रकारतः ।
आचक्षते महात्मानः परे गोत्रप्रवर्त्तकम् ॥ ३ ॥

प्रसिद्ध सूत्रकार शाण्डिल्यसे अन्य ही श्री नारदनिर्दिष्ट शाण्डिल्य है, गोत्रप्रवर्त्तक शाण्डिल्य अलग है ऐसा यह मतभेद है (इस मतमें पूर्वदर्शित सूत्रसे अन्य ही प्रमाण ढूंढना होगा) ।

यथैव भगवान् गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ।
रमते भगवत्येवमात्मारामोऽपि भक्तिभाक् ॥ ४ ॥
आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्यात्मारामतोदिता ॥ ५ ॥

जैसे आत्माराम भी भगवान गोपियोंमें प्रेम रखते थे वैसे भक्त भी आत्माराम होकर भगवानमें प्रेम करते हैं ।

नतु गोपीषु नैतादृगनुरागोऽवलोकितः ।

न ताः शुकादिमुनिवदात्मारामाः क्वचित्स्मृताः ॥ ६ ॥
सत्यं, ततोऽविरोधेनेत्युवाचात्र महामुनिः ।
आत्मरत्या युतस्येति तत एव न चाब्रवीत् ॥ ७ ॥
* ता निराशा निववृतुर्गोविन्दविनिवर्त्तने ।
विशोका अहनी नित्युर्गायन्त्यः प्रियचेष्टितम्* ॥ ८ ॥
शोको विरोध्यात्मरतेर्विशोकत्वेऽविरोधिता ।
तस्माच्छाण्डिल्यनिर्दिष्टं नैतद् दुष्यति लक्षणम् ॥ ९ ॥
शोकं तरत्यात्मवेदीत्यूचे भगवती श्रुतिः ।
आत्मवित्स्यादात्मरतिरिति सर्वं समञ्जसम् ॥ १० ॥

यद्यपि गोपिकाएं आत्माराम थीं इसमें कोई प्रमाण नहीं मिलता । तथापि आत्मरत्यविरोध "विशोकाः" इस विशेषण से गोपियोंमें सिद्ध है। आत्मवित् ही शोक पार कर सकता है यह श्रुतिसिद्धान्त है । और आत्मवित् तो आत्माराम होगा ही इस दृष्टिसे गोपियां भी आत्माराम थीं ।

पूजादौ वा कथादौ वा पत्यादेः कामिनीजनाः ।
सानुरागास्तथाप्येतन्नात्मरत्यविरोधतः ॥ ११ ॥
को रक्षिष्यति मां नाथ हा हा त्वं क्व गतः पते ।
इति स्वरक्षाशोकार्त्ता विरुन्धन्त्यात्मनो रतिम् ॥ १२ ॥

कामिनी नारी पतिकी पूजा कथादिमें अनुरक्त होती है । परंतु पति के अभावमें अपनी रक्षा के लिये शोक व्याकुल भी होती है । शोक आत्मरतिविरोधी होता है ।

वस्तुतस्त्वनुरागो हि स्थिर इत्युदितं पुरा ।
इति पूर्वमुनिप्रोक्ते नातिव्याप्तिः प्रसज्यते ॥ १३ ॥

अनुराग स्थिर है इस आशय से पूर्वलक्षण है ॥१३॥

यद्वात्र ज्ञानमिश्रैव शाण्डिल्येन निगद्यते ।
ज्ञानाऽनैयत्यमालोच्याविरोधेनेत्युदीरितम् ॥ १४ ॥

अथवा ज्ञानमिश्रा भक्तिको शाण्डिल्यजी कहते हैं ।

* यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १५ ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन* ।
कर्त्तृत्वाद्यभिमानेन विहीनस्य महात्मनः ॥ १६ ॥
* यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते* ॥ १७ ॥
तथा चात्मरतीत्यस्मान्नैष्कर्म्यं परिलक्षितम् ।
नैष्कर्म्यं चापि कर्त्तृत्वभोक्तृत्वमतिहीनता ॥ १८ ॥
अस्पृष्टकर्त्तृभोक्त्रादिभावस्यात्ययतो विधिम् ।
पूजाकथानुरागं तु शाण्डिल्यः प्राह लक्षणम् ॥ १९ ॥

आत्मारामका कोइ कर्त्तव्य नहीं रहता । कर्त्तव्याभावका मतलब है कर्त्ता भोक्ताकी भावना न रखना । यह गीतामें स्पष्ट है । फलतः कर्त्तृत्वादि भावना के विना और विधिपराधीनता के विना पूजादिमें अनुराग भक्तिलक्षण है यह शाण्डिल्यमत है ॥ १३-१९ ॥

* दृष्टश्रुताभिर्मात्राभिर्निर्मुक्तः स्वेन तेजसा ।
ज्ञानविज्ञानसंतृप्तो मद्भक्तः पुरुषो भवेत्* ॥ २० ॥
इति मात्राविनिर्मुक्तिर्ज्ञानादिपरितृप्तता ।
आत्मरत्यविरोधं हि भक्तस्य परिभाषते ॥ २१ ॥

दृष्टश्रुताभिः यह श्लोक शाण्डिल्य मतका समर्थक है।

इति शब्दः प्रकारार्थस्त्रिषु सूत्रेषु संधृतः ।
उक्तिप्रकारभेदोऽयं न तु लक्ष्यं प्रभिद्यते ॥ २२ ॥

तीनों सूत्रोंमें इति शब्द प्रकारवाचक है। लक्षणका प्रकार भिन्न है लक्ष्यमें कोई भेद नहीं है ॥ २२ ॥

ॐ

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता च ॥ १९ ॥

देवर्षि नारदका कहना है कि भगवानमें समस्त कर्मोंका अर्पण और भगवद्विस्मृतिमें परमव्याकुलता भक्तिका लक्षण है ॥ १९ ॥

तदर्पिताखिलाचारो व्याकुलोऽतीव विस्मृतौ ।
प्रेमयुग् भवतीत्येतल्लक्षणं नारदोऽब्रवीत् ॥ १ ॥
* यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् * ॥ २ ॥
तदर्पणं द्विधा प्रोक्तं वैधं चावैधमेव च ।
विधितः क्रियमाणं स्यादर्पणं साधनात्मकम् ॥ ३ ॥
अन्तरेण विधिं यत्र भवेयुः स्वयमर्पिताः ।
भगवत्यखिलाचाराः प्रेमलिङ्गं तदैव तत् ॥ ४ ॥
अत एवाखिलाचारार्पणमित्येव नाब्रवीत् ।
किन्तु निष्ठाबहुव्रीहेरुत्तरं तलमाददात् ॥ ५ ॥

अर्पण एक विधितः होता है और दूसरा स्वयम्। स्वयं अर्पण ही भक्तिलक्षण है। अत एव अखिलाचारार्पणं न कहकर अर्पिताखिलाचारता कहा ॥ १-५ ॥

* मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः ।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वयादिषु ॥ ६ ॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे* ॥ ७ ॥
इति नन्दादिभिः प्रोक्तमुत वात्र समर्पणम् ।
तदर्थव्यापृतत्वं च तदर्पणमुदीर्यते ॥ ८ ॥

तदर्थ व्यापार भी इन्द्रियोंका तदर्पण है। जैसे नन्दरायका वचन है-हमारे मन वाणी आदि कृष्णमें ही लगे रहें ॥ ६-८ ॥

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ च कथासु ते ।
हस्तौ कर्मसु चित्तं त्वत्पादानुस्मरणेऽस्तु नः ॥ ९ ॥
शिरो जगत्प्रणामे च दृष्टिः सद्दर्शनेऽपि च ।
भवत्विति प्रार्थयतां श्रीहरिं यमलार्जुनौ ॥ १० ॥

यमलार्जुनकी प्रार्थनामें भी उक्त बात ही है।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः* ।
इत्येवं भगवत्प्रोक्तमिदमेव समर्पणम् ॥ ११ ॥

मय्यर्पित इस गीताश्लोकमें सर्वथा लगे रहने अर्थमें अर्पित शब्द आया है।

तदर्थपर्यवसितिरथवात्र तदर्पणम् ।
सर्वाचारांस्तदर्थं हि कुरुते प्रेमपूर्णधीः ॥ १२ ॥

पतिव्रता यथा नारी पत्यर्थं कुरुतेऽखिलम् ।
स्नानावतंसनाद्यं च भोजनाच्छादनादि च ॥ १३ ॥
अर्पयामि त्वदर्थं हीत्येवं नो वक्ति साऽथ च ।
सर्वकर्माणि कुरुते तदर्थमिति निश्चितम् ॥ १४ ॥

अथवा तदर्थं पर्यवसान ही तदर्पण है। पतिव्रता नारी यह नहीं बोलती या सोचती कि 'पत्यर्थं समपयामि'। किन्तु नहाना सजाना आदि सभी कार्य पति प्रसन्नतार्थ ही करती है ॥

तददर्शनमेवात्र तद्विस्मरणमुच्यते ।
प्रेम्णि विस्मरणायोगादिति केचित्प्रचक्षते ॥ १५ ॥
त्रुटिर्युगायतेऽस्माकमहनि त्वामपश्यताम् ।
इत्यदर्शनमेवोक्तं व्याकुलत्वस्य कारणम् ॥ १६ ॥

सूत्र में विस्मरणका अदर्शन अर्थ है। प्रेमी प्रियको भूलेगा कैसे ? और गोपीगीत में भी अदर्शन को ही व्याकुलता का हेतु बताया है ॥

वस्तुतो विस्मृतिर्नाम विरहोऽत्र विवक्षितः ।
विरुद्धस्य ह्यभावस्य स्मरणं हि तथाविधम् ॥ १७ ॥
* युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम् ।
शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे* ॥ १८ ॥
वस्तुसत्त्वेऽपि च क्वापि विरुद्धस्य स्मृतिर्भवेत् ।
अतोऽप्रयुज्य विरहं जगौ विस्मरणं मुनिः ॥ १९ ॥
प्रत्यक्षेऽपि हरौ राधा भाव्यभावं मुहुर्मुहुः ।
अनुस्मृत्याभवद् भूरिव्याकुला दीनकातरा ॥ २० ॥

वस्तुतः यहाँ विस्मरण का विरह अर्थ है वि = विरुद्ध का = अभावका स्मरण। विरहशब्दका प्रयोग सूत्रमें नहीं किया। कारण, कहीं अभावस्मरण मात्रसे व्याकुलता होती है। जैसे कृष्ण नजदीक होने पर भी भावी अभाव सोच-कर राधा व्याकुल होती है ॥१९-२०॥

केचिन्निश्चयदार्ढ्यस्य लक्षणत्वाद् यथाश्रुतम्।
युज्यते विस्मरंस्तादृग् व्याकुलो जायते भृशम् ॥ २१ ॥
स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित्।
इत्यनुस्मृत्य विस्मृत्यां व्याकुलो निश्चयी भवेत् ॥ २२ ॥
तन्नाग्रे व्रजगोपीनामुदाहरणवर्णनात्।
तासां निश्चयितामात्रं न प्रेमेति हि को वदेत् ॥ २३ ॥

'निश्चियदार्ढ्यलक्षण उपक्रान्त होने से यहाँ ऐसा अर्थ है कि अपरिपक्व प्रेमी कादाचित्क विस्मरण से पछता-कर व्याकुल होता है' ऐसी व्याख्या गोपियों के वक्ष्यमाण उदाहरण से विरुद्ध है ॥२१-२३

* मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत्।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपेष्यथ* ॥ २४ ॥
इत्यनुस्मरणं नित्यं प्रसिद्धवदनूदितम्।
अभक्तिश्च कथं तासामशास्त्रीयोपगम्यताम् ॥ २५ ॥

गोपियों का नित्यानुस्मरण और भक्ति प्रसिद्ध है। वे अपरिपक्व प्रेमी नहीं हो सकती।

तस्माद्विस्मरणं नाम विरहो न त्वपस्मृतिः।
विरहो ज्ञानरूपोऽत्रेत्येतदर्थं तथेरितम् ॥ २६ ॥

इस लिये विस्मरण का विरहज्ञान ही अर्थ है । ॥२६॥

प्रथमं परमं प्रेम परमो विरहोऽन्ततः ।
परमं व्याकुलत्वं च सूत्रेऽत्र मुनिनोच्यते ॥ २७ ॥
सर्वं वाङ्मनसागम्यं लोकैर्ज्ञातुं न शक्यते ।
तथापि तद् बोधयितुं प्रयतन्ते कृपालवः ॥ २८ ॥
रुग्णे पत्यावेककाया नष्टवृत्ता गृहैषिणः ।
मृते वत्से वत्सलाया जलमग्नस्य चासुषु ॥ २९ ॥
यथा यथा व्याकुलता सा चेतसामस्त्यतो भवेत् ।
परमं व्याकुलत्वं तद् भक्तस्य हरिविस्मृतौ ॥ ३० ॥

परमप्रेम, परमविरह, परमव्याकुलत्व ये सभी अनिर्वचनीय हैं । पति रोगी हो गया और पत्नी अकेली । घरका भार सिरपर परंतु नौकरी छूट गयी । बछडा मर गया, गाय तरस रही । जल में डूब रहा, सांस नहीं मिल रही । इन अवस्थाओं में जो व्याकुलता हो सब अगर हरिविस्मरणमें हो तो वह परमव्याकुलता कही जाती है।

वस्तुतः प्रियसंयोगकालीनविरहस्मृतिः ।
प्रयुङ्क्ते व्याकुलत्वं यत् तत्तु सर्वविलक्षणम् ॥ ३१ ॥

ॐ

वस्तुतः प्रियसंयोगकालीन विरहस्मृति प्रयुक्त व्याकुलता विलक्षण ही है ॥३१॥

ॐ

● अस्त्येवमेवम् ॥ २० ॥ ●

प्रेम का यथार्थतः ऐसा ही स्वरूप है । ॥२०॥

पूजादिष्वनुरागादिविधान्यनुपदं यथा ।
लक्षणानि निरुक्तानि तान्यप्येवं विचक्ष्महे ॥ १ ॥
तत्तल्लक्षणलक्ष्याणि नारदोक्तेन सर्वशः ।
लिङ्गेन लक्षितानि स्युरित्यत्र हृदयं मुनेः ॥ २ ॥

पूजादि में अनुराग इत्यादि जो बताया वह भी नारदोक्तलक्षण से संगत है। अर्थात् उन लक्षणों के सभी लक्ष्य नारदोक्तलक्षण से लक्षित हो जाते हैं । ॥१-२॥

पूजादिकं विधायैव सर्वाण्यर्पयतीश्वरे ।
कथादि शृण्वन् कुर्वन् वा विरहाद् रोदिति प्रभोः ॥ ३ ॥
परमं व्याकुलत्वं च विलक्षणमितीरितम् ।
रतिकालेऽपि तत्स्यादित्यात्मरत्यविरोधिता ॥ ४ ॥
तथा च लक्षणमिदं सर्वव्यापकमित्यतः ।
मतान्तरपरित्यागविरोधादिर्न विद्यते ॥ ५ ॥

पूजादि का अर्पण होता है। कथादि सुनते और बोलते हुए भगवद्विरहव्याकुलता होती है। उस समय परमात्मरति भी रहती है अतः आत्मरत्यविरोध भी है।

अन्यन्न लक्षणं युक्तं युक्तमेतद्धि लक्षणम् ।
इति सूत्रेऽत्र कथितमिति केचित्प्रचक्षते ॥ ६ ॥
तदसत् पूर्वसूत्रोक्तुना व्यावृत्तिसिद्धितः ।
अफलान्तरतद्दार्ढ्यकरणस्य वृथात्वतः ॥ ७ ॥
प्रकारवाचिनोरेवंपदयोश्च समर्थता ।
अस्मद्व्याख्यातरीत्यैव सौत्रयोरुपपद्यते ॥ ८ ॥

पूर्वोक्त तीन लक्षण ठीक नहीं, नारदोक्तलक्षण ही ठीक है ऐसी कुछ लोगोंकी यहां व्याख्या असंगत है। उतना अर्थ तो 'नारदस्तु' इस 'तु' शब्द से ही निकाला जा सकता था। उसे दृढ करने का कोई प्रयोजन भी नहीं है। 'एवमेवम्' ऐसे दो एवंशब्द भी हमारे दिखाई व्याख्या में ही संगत होते हैं। ॥८-७॥

न चात्र सूत्रे पूजादिविमर्शेऽस्य निदर्शनम्।
कथंकारं भवेद् गोपीजना ह्यग्रिमसूत्रगाः ॥ ९ ॥
यतो नारदसिद्धान्तस्तत्र सिंहावलोकनात्।
निदर्शनेन गमितः संगत्याऽवसराख्यया ॥ १० ॥
किं चोपपाद्यविषये विरोधं परिहृत्य हि।
निदर्शनं दर्शितं चेन्नैवासंगतिसंभवः ॥ ११ ॥

इस सूत्रमें पूजादिका ग्रहण होने परभी अग्रिम गोपिकादृष्टान्त की असंगति नहीं है। कारण वह नारदोक्तलक्षणके प्रति अवसर संगतिसे या सिंहावलोकन से दृष्टान्तकथन है। और विरोधाशंकापरिहारोत्तर दृष्टान्तकथन में असंगति मानी भी नहीं जाती। ॥९-११॥

कृष्णार्थसर्वाचरणे क्वाचित्कं पूजनादिकम्।
नैव व्यत्यस्यति ततः संगतं तन्निदर्शनम् ॥ १२ ॥

गोपिकाओं का सर्वाचरण भगवदर्थ हुआ तो कदाचित् संभावित पूजनादि भी भगवदर्थ ही हुआ होगा। अतोऽपि दृष्टान्त सर्वथा संगत है। ॥१२॥

परे पुनरिह प्राहुर्यल्लब्ध्वेत्यादिना पुरा।
प्रोक्तप्रकारा सा भक्तिः शुद्धाऽर्थः प्रथमैवमः ॥ १३ ॥

द्वितीयस्यैवमश्चार्थो लक्षणं नारदोदितम् ।
शुद्धाभक्तेर्निरूप्यत्वाद् व्यावर्त्तक 'तु' संगतिः ॥ १४ ॥

ॐ

'एवं' का अर्थ है–उक्तप्रकार । यल्लब्ध्वा इत्यादि से जिस का प्रकार बताया गया वह परमप्रेमलक्षणा भक्ति सूत्रगत प्रथम एवंपद का अर्थ है । और द्वितीय एवंपदका अर्थ है यहां पर नारदोक्त लक्षण । शुद्धभक्ति का निरूपण होने से 'नारदस्तु' यहां 'तु' से पूर्वव्यावृत्ति भी संगत है ॥

ॐ

सुबोधं सुलभं चापि तत् स्याद् यत् सनिदर्शनम् ।
यदाचरणसिद्धं तल्लोकानां सुविमर्शनम् ॥ १ ॥
सन्तं वीक्ष्य यथा चित्ते वैराग्यमुपजायते ।
किं नु वर्णनमात्रेण तथा तज्जायते नृणाम् ? ॥ २ ॥
तत्र पुण्यवतां नामश्रवणं दर्शनादिकम् ।
सर्वं पुण्यप्रदत्वेन तत्त्वसंपादकं भवेत् ॥ ३ ॥
स्मारयन् हि ततः प्रातःस्मरणीया व्रजाङ्गनाः ।
तत्पुण्यैरिह देवर्षिर्लोकानभ्युद्दिधीर्षति ॥ ४ ॥

आगे प्रातःस्मरणीय गोपिकाओंका उदाहरण है । उदाहरण देने के ये कारण हैं । (१) वस्तु सुबोध और सुलभ होती है । (२) आचरणसिद्धि सुप्राप्त होती है । (३) संत के देखने या स्मरण करने से जो वैराग्य होता है वह वर्णनमात्र से नहीं होता । (४) पुण्यवान का नाम स्मरणादि पुण्यप्रापक तथा लक्ष्यप्रापक हैं । (५) महापुरुषों

का स्मरण कराना भी पुण्यदायी और लोकोद्धारकारण है (६) गोपियां प्रातःस्मरणीय होनेसे सर्वदा स्मरणयोग्य हैं।

● यथा व्रजगोपिकानाम् ॥ २१ ॥ ●

जैसे व्रज की गोपिकाओं में पाया जाता रहा ॥२१॥

या दोहनेऽवहनने मथते प्रेङ्खने हरिम्।
मार्जनादौ च गायन्ति साश्रु धन्या व्रजस्त्रियः ॥ ५ ॥
दुहन्ति तस्मै तस्मै चावघ्नन्ति च पचन्ति च।
सृजन्ति तस्मै तस्मै च मथ्नन्ति विचरन्ति च ॥ ६ ॥
तदर्थतो भुञ्जतेऽलंकुर्वते च तदर्थतः।
तदर्थतो हि गायन्ति नृत्यन्ति च तदर्थतः ॥ ७ ॥
*तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः* ॥ ८ ॥
*ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः* ॥ ९ ॥
तदर्पिताखिलाचारभावसंप्रतिपादिकाः।
तासामवस्था दृश्यन्ते शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १० ॥

सब कुछ करते समय गोपियां भगवान का स्मरण करती थी और सब कुछ भगवान के लिये ही करती थी। उन के मन वाणी जीवनादि सभी भगवन्मय हो गये थे। इस प्रकार तदर्पिताखिलाचारता गोपियों में स्पष्ट है।

*गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभवत्* ॥ ११ ॥

सुहृद्दिदृक्षया यर्हि भवान् यातः कुरून् मधून् ।
क्षणोऽब्दकोटिप्रतिमस्तदाभून्नो विनाक्षिवत् ॥ १२ ॥
* अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥ १३ ॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥ १४ ॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः* ॥ १५ ॥
इत्यादिभिश्च परमं व्याकुलत्वं निरूपितम् ।

भगवान के विरह में एक एक क्षण करोडों वर्षसमान सैकडों युगसमान गोपियों का बीतता था । रासप्रसंग में कईयोंने व्याकुलतासे अपने प्राणोंको ही छोडा ।

दर्शिता विविधावस्थास्तासां व्याकुलतोद्भवाः ॥ १६ ॥

व्याकुलता से उत्पन्न विविध अवस्थायें उनमें जैसे:-

रुन्धन्निव स मन्थानं स्तम्भन्निव च मार्जनीम् ।
आकृष्यन्निव मे पाणिं निष्कर्माणं करोति माम् ॥१७॥
इति ब्रुवाणा काचित्तु निश्चलापाङ्गकुड्मला ।
सर्वकार्याणि संत्यज्य तिष्ठत्येकान्तमानसा ॥ १८ ॥
मनोविलासमात्रं तत् सर्वमित्यपसारये ।
हृदयात् कृष्णमेनं हीत्यास्ते ध्यानेऽपरा वधूः ॥ १९ ॥

मथानी रोकता है, झाडू पकडता है, मेरा हाथ खींच रहा है कहती हुई कोई गोपी चुप बैठी है । दूसरी-यह

सब मनकी कल्पना है। कृष्ण को ही मन से निकालूं कह कर ध्यान में बैठी है। ॥१८-१९॥

विक्रेतुमपरा काचित् पण्यवीथिमुपागता।
गोविन्द माधवेत्याह निर्देशं क्रय्यवस्तुनः ॥ २० ॥

फूलमाला आदि बेचने वाली फूल फूल कहने की जगह 'गोविन्द माधव' बोलने लगी। ॥२०॥

मृजती काचन गृहमङ्गनस्थं तु कच्चरम्।
अन्तर्गृहे न्यधात् कृष्णमानुसा विस्मृताखिला ॥ २१ ॥
भोजनं धेनवे काचित् पलालं श्वशुराय च।
प्रादात् कृष्णस्मृतिग्रस्ता श्वश्र्वामुत्तरलभ्रुवि ॥ २२ ॥
वत्सं बन्धयितुं काचिद् धृतरज्जुर्निलीनधीः।
खेलन्तं पुरतो डिम्भमबध्नात् स्तम्भमूलतः ॥ २३ ॥
शिशुं पाययितुं स्तन्यं मञ्चपर्यन्तमागता।
उपबर्हं गृहीत्वोपाविशदुद्धृतकञ्चुका ॥ २४ ॥

कोई गोपी झाडू लगा रही थी। कृष्णस्मृति में सब भूलकर बाहर का कचडा घरमें लाकर डाल दिया। किसी गोपीने भोजन के समय भोजन गायके सामने और भूसा ससुर के सामने रख दिया। बांधना था बछडे को, किन्तु खंभे के साथ बच्चे को ही बांध दिया। कोई बच्चे को दूध पिलाने गयी और तकिया गोदमें लेकर कंचुक उठाने लगी। ॥२१-२४॥

काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसंगमम्।
प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वा तमब्रवीत् ॥ २५ ॥

कोईतो भ्रमरको कृष्णदूत समझकर उससे बोलने लगी।

काचिद्रोदिति काप्यन्या कुप्यति ध्यायतीतरा ।
श्यामेति धावत्यपरा तिष्ठत्यन्याश्रुलोचना ॥ २६ ॥
प्रेमसाम्राज्यराजाध्वमध्यसंचारचुञ्चवः ।
धन्यधन्या महाभावा जयन्ति व्रजगोपिकाः ॥ २७ ॥
सहस्रवदनः शेषो यन्न वक्तुमलंतराम् ।
वर्णयेयं कियन्नाम तत्रैकवदनस्त्वहम् ॥ २८ ॥

ॐ

कोई रो रही है, कोई खीझ रही है, कोई दौड रही है। प्रेम साम्राज्य के राजपथ में चलने वाली उन गोपिकाओंका सहस्रवदन शेष भी वर्णन करने में असमर्थ है तो एकमुख हमारी क्या बात है। ॥२६-२८॥

ॐ

ननु गोपीष्वतु प्रोक्तं व्याकुलत्वं न युज्यते ।
न हि विस्मरणं तासां क्वचनाप्युपलभ्यते ॥ १ ॥
न च विस्मरणं नाम विरहो न त्वपस्मृतिः ।
अभावज्ञानरूपः स तास्त्वप्यस्तीति सांप्रतम् ॥ २ ॥
यतो व्यापकरूपस्य क्वापि नाभावसंभवः ।
उक्तं च ताभिरखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ॥ ३ ॥
एतेन भाव्यभावानुस्मरणं च पराकृतम् ।
न हि नित्यस्य भावी चाप्यभाव उपपद्यते ॥ ४ ॥

पूर्वपक्ष:-गोपियों में न कृष्णविस्मरण प्रसिद्ध है और न कृष्णविरहचिन्तन ही संभव है। क्यों कि "अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्" इस प्रकार हरिको उन्होंने व्यापक समझा है। हरि नित्य है, अतः भावी अभाव भी असंभव है। ॥१-४॥

न च काभिश्चिदेवेयं नित्यव्यापकता हरेः।
विज्ञाता न तु सर्वाभिरित्यप्यत्र समञ्जसम् ॥ ५ ॥
व्यापकात्माऽपरिज्ञाने शुद्धं प्रेम कथं भवेत्।
जारप्रेमैव तदिति वक्ष्यामोऽनुपदं यतः ॥ ६ ॥
* माहात्म्यज्ञानयुक्तस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया सार्ष्ट्यादि नान्यथा* ॥७॥
इत्येवं पाञ्चरात्रेऽन्यां नान्यथेति निषिध्य हि।
माहात्म्यज्ञानसहितां भक्तिमाह महामुनिः ॥ ८ ॥

यदि कहें कि कोई कोई गोपी भगवानको नित्य और व्यापक समझती थी, सभी नहीं। तो वह जारप्रेम होगा यह अगले सूत्रमें स्पष्ट है इस में पांचरात्रवचन भी प्रमाण है। ॥५-८॥

किंच या विविदुः कृष्णं नित्यव्यापकरूपिणम्।
तासां व्याकुलताभावादेकदेश्येव लक्षणम् ॥ ९ ॥

जिन गोपियों को नित्यव्यापकता ज्ञान रहा उन में लक्षण तो अव्याप्त है ही। ॥९॥

तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः ॥ २२ ॥

उन गोपियों में भी माहात्म्यज्ञान की विस्मृति का अपवाद नहीं है।

अत्र ब्रूमो न माहात्म्यज्ञानविस्मृतिरासु हि ।
अपोद्यते गोपिकासु व्याकुलत्वं तदाञ्जसम् ॥ १० ॥

उत्तर :–माहात्म्य ज्ञान विस्मृति गोपिकाओंमें भी रही

महान् नित्यो व्यापकश्च सर्वशक्त्यादियुक् तथा ।
आत्मा स्वरूपं यस्यासौ महात्मेत्युच्यते बुधैः ॥ ११ ॥

अथ वात्र महांश्चासावात्मा चेत्यस्तु विग्रहः ।
महत्त्वं पूर्ववज्ज्ञेयमात्मशब्दो यथाश्रुते ॥ १२ ॥

तत्रापि भक्तमूर्धन्यचिन्तामणिषु तास्वपि ।
नैवापवादः समभून्माहात्म्यज्ञानविस्मृतेः ॥ १३ ॥

महात्मा = नित्य और व्यापक आत्मा । उसका भाव माहात्म्य । ॥११-१३॥

गोप्य उक्त्वेदमखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
रुरुदुः सुस्वरं तद्धि माहात्म्यज्ञानविस्मृतेः ॥ १४ ॥

एक ओर सर्वान्तरात्मा कहकर दूसरी ओर रो रही हैं । "रुरुदुः सुस्वरं राजन्" । यही तो माहात्म्यज्ञानविस्मृति का फल है । ॥१४॥

विश्वरूपं मुखे वीक्ष्य दुर्विभाव्यं महेश्वरम् ।
यन्मायया जगत् सर्वं यशोदा समभावयत् ॥ १५ ॥

* इत्थं विदिततत्त्वायां गोपिकायां स ईश्वरः ।
वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः ॥ १६ ॥

सद्यो नष्टस्मृतिर्गोपी सारोप्यारोपमात्मजम् ।
प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदयासीद्यथा पुरा ॥ १७ ॥

त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः ।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं साऽमन्यतात्मजम्* ॥१८॥

इत्यत्र स्पष्टमाचष्ट माहात्म्यज्ञानविस्मृतिम् ।

गोपिकाया यशोदायाः स्नेहमूलात्मिकां मुनिः ॥ १९ ॥

अन्य प्रसङ्गः-यशोदा विश्वरूप देखकर कृष्ण को जगत्कारण महेश्वर समझती है। तब भगवान् पुत्रस्नेहमयी माया फैलाकर विस्मरण कराते हैं। और वेदादि प्रतिपादित माहात्म्यवाले भगवानको पुत्र मानने लगती है। यशोदाकी माहात्म्यज्ञान विस्मृति यहां स्पष्ट है॥१५-१९॥

गोवर्धनगिरिं हस्ते धरन्तमपि माधवम् ।

माहात्म्यज्ञानविस्मृत्या सव्यथं ददृशुः स्त्रियः ॥२०॥

दामपाणौ प्रदेह्येनं गिरिमित्याह काचन ।

संवाहयामि वामं ते धर सव्य इतीतरा ॥ २१ ॥

गोवर्धन पर्वत हाथ में उठाये देखकर भी (माहात्म्य को देखती हुई भी) गोपियां व्यथित हो रही। कोई कहती कि कुछ देर के लिये दामा के हाथ में गोवर्धन दे दे। दूसरी कहती-दूसरे हाथ में पकडलो मैं इस हाथको दबावूं।

* देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ ।

कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कया ॥ २२ ॥

पितरावुपलब्धार्थौ विदित्वा पुरुषोत्तमः ।

मा भूदिति निजां मायां ततान जनमोहिनीम्* ॥ २३ ॥

इत्येवं तत्र तत्रैव प्रेमपोषणहेतवे ।

हरिप्रणीता भणिता माहात्म्यज्ञानविस्मृतिः ॥ २४ ॥

देवकी और वसुदेव राम और कृष्ण को जगदीश्वर समझकर गोदमें नहीं उठा रहे थे तो वहां भी स्नेहमयी माया फैला कर विस्मृति करायी । २२-२४॥

न चात्र विस्मृतिर्नामाऽविद्या तत्कार्यमेव वा ।
अत एवागदीन्मायां पुत्रस्नेहमयीमिति ॥ २५ ॥
परमप्रेममय्येव विस्मृतिश्च विलक्षणा ।
दुर्विभाव्या च सा लोकैस्तदाह जनमोहिनीम् ॥ २६ ॥
लौकिकालौकिकात्मानावेकीकृत्य च विस्मृती ।
तत्रापीत्यपिना तासु समुच्चित्याब्रवीन्मुनिः ॥ २७ ॥

उक्त विस्मृति अविद्या या तत्कार्य नहीं। किन्तु परमप्रेममयी है। अत एव माया को पुत्रस्नेहमयी कहा। लोग उसे नहीं परख सकते इस लिये जनमोहिनी कहा। सूत्रमें लौकिक अलौकिक विस्मृति को विस्मृतित्वेन एकीकरण कर अपिकार से समुच्चय किया। ॥२५-२७॥

लौकिकी नहि तास्वस्ति विस्मृतिर्हीत्यभिप्रयन् ।
नापवाद इति प्राह न तु सास्तीति नारदः ॥ २८ ॥
लोकाः कथंचिद् बुध्येरन्नलौकिकमपीदृशम् ।
तत्त्वमित्युक्तिवैचित्र्यं चकार भगवानृषिः ॥ २९ ॥

विस्मृति थी ऐसा न कह कर विस्मृति का अपवाद न था कहनेका अभिप्राय यही कि लौकिकविस्मृति गोपियोंमें नहीं थी। अलौकिक तत्त्व कथंचित् समझ में आ जाए एतदर्थ देवर्षिका यह उक्तिवैचित्र्य है। ॥२८-२९॥

एवं स्थिते यदत्राहुः केचिद् व्याख्यानकोविदाः ।
अपवादोऽभाव एष विस्मृत्याऽभेदतोऽन्वियात् ॥ ३० ॥
विस्मृत्याख्यो न माहात्म्यज्ञानस्य विरहः खलु ।
प्रेमणीति तदाकूतं व्यवृण्वन्नपि ते ततः ॥ ३१ ॥

तदपास्तं यथाप्रोक्तप्रमाणाद्विस्मृतीक्षणात् ।
वात्सल्याद्यभिधप्रेम्णामन्यथा खल्वसंभवात् ॥ ३२ ॥
पूजादिरसिकाः स्नानभोगशय्यादिकं हरेः ।
विस्मृत्य तच्छुद्धबुद्धपूर्णत्वादि प्रकुर्वते ॥ ३३ ॥

माहात्म्यज्ञानविस्मृतिरूपी अभाव गोपिकाओं में नहीं था ऐसी व्याख्या अयुक्त है । क्यों कि विस्मृति में प्रमाण ऊपर दिखा दिया। और वात्सल्यादि प्रेम माहात्म्यविस्मृति के विना संभव भी नहीं । पूजानुरागी माहात्म्य को भूलते नहीं तो तृप्त को क्या भोग लगायेंगे? वैधीमें वह संभव होने पर भी रागानुगामें क्या गति ? ॥३०-३३॥

अपरे त्वपवादस्य कलङ्कार्थं प्रचख्यिरे ।
अभेदेनान्वयोऽत्रापि कलङ्कः खलु विस्मृतिः ॥ ३४ ॥
मिथ्यापवादप्रभृतिप्रयोगेषु तथार्थता ।
दृष्टा काव्येषु तेनात्र न क्षतिः कापि विद्यते ॥ ३५ ॥
तदप्युक्तप्रमाणेन निरस्तं, भक्तिमीयुषाम् ।
न विस्मृतिः कलङ्कोऽयमलङ्कारो ह्यसौ यतः ॥ ३६ ॥
* अवर्णाक्षेपनिर्वादपरीवादापवादवत् ।
उपक्रोशो जुगुप्सा च कुत्सा निन्दा च गर्हणे* ॥ ३७ ॥
* अपवादस्तु निन्दायामाज्ञाविश्रम्भयोरपि* ।
इत्यादिकोशवचने कलङ्कार्थश्च नेक्ष्यते ॥ ३८ ॥
कलङ्ककारणं वाक्यमपवादपदेन हि ।
काव्येषूक्तं विस्मृतिस्तु न वाक्यं किन्त्वतः पृथक् ॥३९॥

अन्य व्याख्याता कहते हैं-अपवाद का कलंक अर्थ है। परंतु महात्म्यविस्मृति अलंकार है भक्तों का, कलंक कैसा ? यशोदा आदि की विस्मृति स्पष्ट है। और कोशों में अपवाद का कलंक अर्थ नहीं बताया है कलंक-हेतु वाक्य अर्थमें अपवाद शब्द का प्रयोग काव्यों में है। परंतु आकाशधर्म वाक्य और अंतःकरणधर्म विस्मृति की एकता किस प्रकार ? ॥३४-३९॥

अन्ये पुनः समाचख्युरन्यथैव मनीषिणः ।
अपवादो निन्दनीयो घञः कर्मणि शासनात् ॥ ४० ॥

द्विविधा विस्मृतिः प्रोक्ता निन्द्याऽनिन्द्यविभागतः ।
निन्द्या न विस्मृतिस्तासामनिन्द्या सा त्ववर्त्तत ॥४१॥

अवतरादिकालेषु माहात्म्यज्ञानविस्मृतिः ।
अनिन्द्येति महर्षिस्तां व्यावर्त्तयति विस्मृतिम् ॥ ४२ ॥

अवतारेऽज्ञाततत्त्वाः शिशुपालादयः खलाः ।
परां गतिमवापुश्चेदितरेषां हि का कथा ॥ ४३ ॥

यदा त्वप्रकटो देवो माहात्म्यस्मरणं तदा ।
आवश्यकं विस्मृतिस्तु तदानीं निन्दिता मता ॥ ४४ ॥

अन्य व्याख्याः-अपवाद का निन्द्य अर्थ है। अवतार काल में माहात्म्यविस्मृति अनिंद्य है। अतः शिशुपालादि की परमगति में आश्चर्य नहीं। इस प्रकार उस समय गोपिकाओं में भी विस्मृति निन्द्य नहीं थी। हां, भगवान् के अप्रकट समय में माहात्म्यविस्मृति निन्द्य है ॥४०-४४॥

अत्रोच्यतेऽपवादोऽयं विस्मृतेश्चेद्विशेषणम् ।
तस्य पूर्वनिपातः स्यादन्यथा क्लिष्टकल्पना ॥४५॥

लेखक की अन्य कृतियां

वेदान्तमन्दारतरुः सव्याख्यः
चित्सुखीव्याख्या
खण्डनव्याख्या
गौडब्रह्मानन्दीव्याख्या
न्यायसूत्रभाष्यार्थसंग्रहः
प्रशस्तपादभाष्यार्थसंग्रहः
न्यायसिद्धान्तरत्नमाला
अनुमितिगादाधरीतत्त्वप्रदीपः
अवयवगादाधरीतत्त्वप्रदीपः
सत्प्रतिपक्षगादाधरीतत्त्व-प्रदीपः
प्रामाण्यवादगादाधरीतत्त्व-प्रदीपः
साधारणगादाधरीतत्त्वप्रदीपः
सव्यभिचारगादाधरीतत्त्व-प्रदीपः
सामान्यलक्षणाजागदीशी तत्त्वप्रदीपः
केवलान्वयिजागदीशीतत्त्व-
काल ... प्रदीपः

महिम्नःस्तोत्र हरीहरपक्षीय अनुवाद
दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्तिक अनुवाद
शिवसंकल्पवार्तिक
शिवसंकल्पप्रवचनसार (गुजराती)
गायत्रीप्रवचन
दक्षिणमूर्तिस्तोत्रवर्तिक प्रवचन
पञ्चदशीप्रवचन (कुछ प्रकरणों पर)
गीताप्रवचन(कुछ अध्यायोंपर)
भागवतप्रवचन (कुछ अध्यायों पर)
भागवतसार
पञ्चीकरणवार्त्तिक अनुवाद
गोपीगीत का अर्थ
मुण्डकप्रवचन
ईशावास्यप्रवचन

...शुपालादि की परमगति में आश्चर्य न ... प्रकार उस समय गोपिकाओं में भी विस्मृति निन्द्य नहीं थी। हां, भगवान् के अप्रकट समय में माहात्म्यविस्मृति निन्द्य है ॥४०-४४॥

अत्रोच्यतेऽपवादोऽयं विस्मृतेश्चेद्विशेषणम्।
तस्य पूर्वनिपातः स्यादन्यथा क्लिष्टकल्पना ॥४५॥